ऋषि और कृषि : ज्ञान और सृष्टि की भारतीय मीमांसा

(Paper presented to the Indian Institute of Advanced Study, Shimla)

बृजेन्द्र पाण्डेय

ऋषि और कृषि का प्रश्न फलक की दृष्टि से अत्यन्त विशद् और महत्वपूर्ण प्रश्न है। ऋषि से तात्पर्य हमारी समूची ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) या ज्ञान-प्रबन्ध से है, तो दूसरी ओर, कृषि से तात्पर्य सृष्टि-मीमांसा (Cosmology) या सृष्टि-प्रबन्ध से है। भारतीय सनातन परम्परा में इसे ही 'गो-ब्राह्मण-हिताय' की अवधारणा के माध्यम से इंगित किया गया है। 'ब्राह्मण' जहाँ ज्ञान-मीमांसा का बोधक है, वहीं 'गो' सृष्टि-मीमांसा का। पर्यावरण का अभिप्राय ज्ञान और सृष्टि की युति द्वारा निर्मित उस परिवेश से है, जिसके लौकिक प्रतिभाष को हम संस्कृति और जिसके दृश्यमान लोक-विग्रह को हम सभ्यता कहते हैं। ऋषि, सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न वे आध्यात्मिक सत्ताएँ हैं, जो अनावृत्त ज्ञान के साक्षी हैं। दुनियाँ की सभी प्रमुख परम्पराओं को अपनी तासीर और सामर्थ्य के अनुरूप प्रवर्त्तक प्राप्त हुए हैं, जिनकी दृष्टि का विस्तार उस परम्परा के परवर्त्ती आचार्यों द्वारा किया गया।

यह एक शुभ संकेत है कि कुछ सुधिजन सदियों के विजातीय और औपनिवेशिक वर्चस्व के कारण धुँधले, अस्पष्ट और लगभग विस्मृत हो चले 'भारत-बोध' अथवा अपने 'आत्म-बोध' के पुनर्स्मरण और पुनर्प्रतिष्ठा को लेकर गम्भीरता और स्थिरता के साथ सक्रिय हैं। यह भी एक बड़े संतोष की बात है कि इन सुधिजनों ने भारतीय जीवन-प्रणाली के समाजार्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उत्स को सांगोपांग रूप से पहचानने की चेष्टा और स्वीकारने की हिम्मत दिखाई है। वस्तुतः भारतीय जीवन-विधान की इस परिपूर्णता को समझे-स्वीकारे बिना न तो भारतीय होने के वैशिष्ट्य का बोध सम्भव है, और न ही इसके वैश्विक संदर्भ का। 'भारत-बोध' का प्रश्न टुकड़ों या खेमों की परिधि में विचार करने योग्य प्रश्न नहीं है; इसी प्रकार, अनर्गल वैश्विक वर्चस्व के अमूर्त नारों के सहारे भी इसका बोध नहीं हो सकता। अपने को भारतीय कहने का एक विशेष अर्थ है, और ऐसा कहने की एक विशेष जिम्मेदारी भी है। ये विशेष अर्थ अमेरिकी, यूरोपीय या संयुक्त राष्ट्र-संघीय कहने में नहीं है; और इसीलिए ऐसा कहने वालों पर वैसी गुरुतर जिम्मेदारी भी नहीं है, जो अपने आपको एक भारतीय कहने वाले पर है। इसीलिए भारतीय संदर्भ पर विचार करते हुए इस विशेष अर्थ और इस विशेष जिम्मेदारी को भी ध्यान में रखना चाहिए।

ऋषि और कृषि : तत्त्वशास्त्रीय संदर्भ

भारतीयता का मूलाधार तत्त्वशास्त्रीय है। सम्पूर्ण चराचर में एक ही परमतत्त्व की व्याप्ति अभिव्यक्त होती है; सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म का ही विवर्त्त है, विस्तार है। अद्वैत-दर्शन की यह मूल मान्यता ही भारतीयता का आधार है। यही कारण है कि भारतीयों ने सृष्टि को न तो अकारण अथवा अनात्मिक माना, और न ही सृष्टि के किसी भी अंश को निष्प्रयोज्य। भारतीयों के लिए सृष्टि का होना ही अपने में एक एकात्म घटना है। सृष्टि के माध्यम से विराट् पुरुष की अनेक-असंख्य अन्तर्भूत विभूतियाँ स्वरूप और विस्तार पाती हैं। ये विभूतियाँ सृष्टि में त्रिगुणात्मक रूप से अभिव्यक्त होती हैं। सृष्टि के प्राकट्य की यह त्रिगुणात्मक अनिवार्यता ही विराट् की वैश्विक अभिव्यक्ति के बीच देश-कालानुरूप विशिष्टता को जन्म देती है। विशिष्टता के इस स्वरूप के दर्शन हमें देश-काल-परिस्थिति-जन्य पदार्थों और मानव-समाज की व्यवस्थाओं में होते हैं। इसलिए एक ओर तो हम भारतीयों के लिए सम्पूर्ण सृष्टि को परमात्मा का विवर्त मानते हुए उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति में उसकी अन्तर्भूत विभूतियों का प्राकट्य देखना है, और इस प्रकार, सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एक सहज, स्वाभाविक, आत्मीय तादात्म्य स्थापित करना है; तथा दूसरी ओर, अपने देश-कालानुरूप प्राप्त विशिष्टता की रक्षा भी करनी है; कारण कि इसी विशिष्टता के सहारे हमारे समाजार्थिक जीवन का नियमन तय होगा जो हमारे अन्दर विश्व-बोध की प्राप्ति के लिए आवश्यक दशाएँ और पात्रता उत्पन्न करेगा।

आधुनिकता की तुलना में दुनिया की प्रत्येक परम्परा में स्वरूपात्मक सहधर्मिता है। यह तथ्य भारतवर्ष पर भी लागू होता है। भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति, इसकी नातिशीतोष्ण जलवायु, घने छायादार वनों का आधिक्य, अनेक प्रकार का प्राकृतिक सौन्दर्य, यहाँ की नदी मातृक और देव-मातृक उर्वरा भूमि, कंद-मूल एवं फल-फूलों तथा सुस्वादु खाद्य पदार्थों का स्वल्प ही परिश्रम से पर्याप्त मात्रा में मिल जाना आदि भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति ने यहाँ के रहने वालों को अनादि काल से शान्त और गंभीर बना रखा है। इन्हीं कारणों से ये लोग अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को जीवन तथा विश्व की गहन और उलझी हुई समस्याओं को, मृत्यु के रहस्य को, जीवात्मा के तथ्य को, दैवी शक्ति को तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने और अज्ञानियों को समझाने में लगा सके।

पारम्परिक भूगोल के अनुसार भारतवर्ष सप्तद्वीपा वसुंधरा के अन्तर्गत जम्बूद्वीप का एक वर्ष है। इसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में लवण-समुद्र है। यह भोगभूमि होने पर भी विशेषतः कर्म-भूमि है। शीत, ग्रीष्मादि षड्-ऋतुओं का सम्बन्ध तथा विभिन्न प्रकार के धर्मों का समन्वय एकमात्र भारतवर्ष में ही दृष्ट होता है। जीवन की एक-सूत्रता से निःसृत तथा अपने में स्वायत्त विविधता का स्वरूप यहाँ की संस्कृति की विशेषता है। यह एकता-मूलक विविधता परस्पर सम्बद्ध भी होती है और इसमें एक जीवन्त प्रवाह भी विद्यमान रहता है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति की गहनता, व्यापकता, विरोध-समन्वय-सामर्थ्य और सर्वतोमुख अभ्युदय के प्रति प्रतिबद्धता अतुलनीय है। प्रसुप्त शक्तियों के विकास के लिए यह स्वाभाविक क्षेत्र है। इस संस्कृति की प्रत्येक विद्या, प्रत्येक कला, प्रत्येक शास्त्र तथा प्रत्येक वृत्ति का उद्येश्य मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य है।

वस्तुतः भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति सनातन परम्परा का लोक-विग्रह है। एकता मूलक वैविध्य इसके स्वभाव में है। इसीलिए इसमें एकरूपता या एकरसता का भाव अस्वाभाविक, अप्राकृतिक एवं कृत्रिम माना जाता रहा है। भारतीय वाङ्मय की व्याख्या या विश्लेषण के लिए कम से कम नौ प्रकार के दर्शनों यथा पूर्व-मीमांसा, सांख्य, वैशैषिक, न्याय, योग एवं वेदान्त जैसे वैदिक; बौद्ध एवं जैन जैसे श्रमणिक तथा लोकायत जैसे प्राकृतिक अनुभववादी की सहायता ली जाती रही है। मनुष्य, प्रकृति एवं ब्रह्माण्डीय शक्ति के लीलात्मक सम्बन्धों के शिवत्व, सत्य एवं सौन्दर्य की थाह पाने के लिए नौ प्रकार के भाव या रस (शांत, करुण, वात्सल्य, श्रृंगार, वीर, रौद्र, अद्‌भुत, हास्य तथा वीभत्स) की अवधारणा विकसित की गई है। प्रकृति एवं संस्कृति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के विभिन्न सोपानों को ऋतु-चक्र परिवर्तन (वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर) की अवधारणा द्वारा अभिव्यक्ति दी गई है। मनुष्य के अन्तर्निहित स्वभाव को समझने के लिए चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की अवधारणा विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति सहजता से हो सके इसके लिए चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) की व्यवस्था की गई है। चार आश्रमों के अन्तर्गत सोलह संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णभेद, विद्यारंभ, उपनयन, वेदारंभ, केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा अंत्येष्टि) की विधि विकसित की गई। जो लोग वैकल्पिक माध्यम से जीवन जीना चाहते हैं उनके लिए श्रमण एवं प्राकृतिक अनुभववादी मार्ग सुलभ रहे हैं। तीनों मार्गों से वैवाहिक जीवन शुरु किया जा सकता है, अतः आठ प्रकार के विवाहों (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस तथा पिशाच) का वर्गीकरण है। विवाह का मूल उद्देश्य सृजन या सन्तानोत्पत्ति है जिससे पितृऋण से मुक्त हो सकें। यहाँ मनुष्य स्वतन्त्र नहीं जन्म लेता, वरन् तीन ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण) से ऋणमुक्त होने में ही उसके जीवन की साधना और सार्थकता है। भारतीय संस्कृति के केन्द्र में सूर्य है। प्रकाश-पुञ्ज सूर्य की किरणों में सात रंगों (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी व लाल) का समुच्चय है। इन विविधताओं के बीच समाज-व्यवस्था की कम से कम चार समानान्तर पद्धतियाँ फलती-फूलती रही हैं- सम्प्रदायों एवं पंथों की धार्मिक पद्धति, जातियों की सामाजिक पद्धति, कुटुम्बों की नातेदारी पद्धति तथा राज्यों की राजनैतिक पद्धति। ये चारों व्यवस्थाएँ एक-दूसरे की पूरक रही हैं। इनके अधिकार एवं कर्तव्य की सीमाएँ संस्थाबद्ध रही हैं।

भारतीय सभ्यता में एकात्मता की तुलना में तादात्म्यता पर अधिक जोर रहा है। भूतकाल के वैभव की स्मृति के महत्व को स्वीकारने के बावजूद वर्तमान में आस्था रखकर भविष्य केन्द्रित पुरुषार्थ करने पर ज्यादा बल दिया गया है। सनातन जीवन-दृष्टि एवं धर्म में सतत अध्ययन, मनन, चिन्तन, अभ्यास, अनुभूति, साधना, भक्ति एवं यज्ञ का महत्व वर्तमान में आस्था का अकाट्य प्रमाण है। इस सभ्यता में विचारधारा के तार्किक आग्रह की तुलना में आस्था एवं आस्तिकता का महत्व अधिक रहा है। किसी एक लक्ष्य के लिए विविध धारणा करने वाले सम्प्रदायों, जातियों, समूहों में एकरूपता

स्थापित करने के स्थान पर एक-दूसरे के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारते हुए, एक-दूसरे की समस्याओं को समझते हुए, सभ्यता-मूलक एक-सूत्रता को संवर्धित करने की ओर अधिक प्रयत्न किया गया है।

दूसरे शब्दों में, भारतीय समाज में विचारधारा एवं तार्किकता की तुलना में आत्मान्वेषण, अपरोक्ष अनुभूति, आचार-विचार की एकता तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में संगतिपूर्ण आचरण को अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ सृजन की पात्रता प्राप्त करने के लिए मुक्ति की अपरोक्ष अनुभूति आवश्यक मानी गई है, और इस प्रकार की मुक्ति के लिए विविध मार्ग, पंथ, सम्प्रदाय, दर्शन-प्रणाली तथा कलाओं की साधना को आवश्यक माना गया है। यहाँ विकास, उत्सव, समृद्धि, भोग एवं साधना के लिए किसी एक मत या सम्प्रदाय के आग्रह को कभी नहीं स्वीकारा गया। अतः प्राचीन काल से ही शास्त्र और लोक, दोनों स्तरों पर विविधता को पारम्परिक प्रोत्साहन मिलता रहा है, और युगानुकूल तदात्म्य भी बना रहा है। इस तादात्म्यता या समन्वय का कोई अखिल भारतीय एकरूप प्रतिरूप न कभी रहा है, और न ही आवश्यक माना गया है; क्योंकि, जैसा आनन्द कुमारस्वामी ने कहा है, भारतीय परम्परा में अनेक संरचनाओं के पीछे दृष्टिकोण, तत्त्वज्ञान एवं उद्देश्य लगभग समानधर्मी (होमोलोगस) रहा है। भारतीय संस्कृति में इस तादात्म्य का मुख्य प्रयोजन एक मुख्य अर्थ को अंगीभूत बनाने में तथा अन्य छोटे लक्ष्यों को उसके सापेक्ष बनाने के अर्थ में निहित है। परम्परा की इस एक-सूत्रता को बनाए रखने का भाव सहज रूप में भारत में व्याप्त रहा है।

यही कारण हो सकते हैं जिनसे भारतीयों का प्रत्येक कार्य अलौकिक तथा आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। मनुष्य के जीवन के नियमानुकूल कार्य तथा दर्शन-शास्त्रों में सिद्धान्त-रूप में कहे गए आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्व परस्पर इस प्रकार ओत-प्रोत हैं कि एक-दूसरे से उन्हें कभी पृथक नहीं किया जा सकता। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवन का सादापन, उच्च विचार के प्रति अनुराग, अन्तःकरण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, संसार को पारमार्थिक दृष्टि से निःसार समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण, जीवन की उलझनों को सुधारने में तत्परता, परमलक्ष्य तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह, आदि गुण सामान्य रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यों में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते हैं। जीवन के झंझावातों में भी सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रेयस्, निःश्रेयस और अभ्युदय, प्रिय और अप्रिय, चेतन और जड़, सुख और दुःख, आदि तत्त्वों के रहस्य को समझने के लिए सृष्टि के आरम्भ से ही भारतीय अपने जीवन की समस्त शक्तियों को लगाते चले आ रहे हैं। इसके प्रभाव से भारतवर्ष की पुण्य-भूमि में अनादि काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की, विचार-धारा बहती चली आ रही है, इसके लिए वेद से लेकर आज तक के सभी साहित्य साक्षी हैं।

भारतीयों के लिए देश और काल से परिच्छिन्न इस जगत में 'आकस्मिकवाद' का किसी भी अवस्था में वस्तुतः कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक घटना के लिए कोई न कोई कारण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, वर्तमान रहता ही है। सभी घटनाओं के कारण सभी को ज्ञात नहीं हो सकते अतः 'उच्छृंखलवाद' का अवलम्बन न कर ज्ञानियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने में ही कल्याण माना गया है। दूसरी ओर जीवन के अनुभवों में तारतम्य को देखकर संसार के अनादित्व में तथा 'कर्मवाद' के रहस्य में हमें विश्वास करना पड़ता है। हालाँकि कर्म की गति बड़ी गहन मानी गयी है किन्तु यह न केवल विश्वास का विषय है, वरन् अनुभूति का एक विशद क्षेत्र है। इस अनुभूति का बोध प्राप्त करने के लिए यह अपेक्षा की गयी है कि मनुष्य अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति से धीरे-धीरे अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर गतिमान हो। वस्तुतः समस्त भारतीय जीवन-पद्धति मनुष्य को तत्त्वज्ञान का पथिक बनाने की साधना है।

समस्त भारतीय दर्शन-परम्परा सोपानवत है। प्रत्येक सोपान तत्त्व-ज्ञान के, अर्थात् परम लक्ष्य, परम आनन्द के साधकों की बुद्धि का क्रमिक विकास और ज्ञान-मार्ग में पद-विन्यास का क्रम है। अपने-अपने अधिकार के अनुरूप जिज्ञासु साधक भिन्न-भिन्न दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का साक्षात अनुभव करने की चेष्टा करता है, किन्तु वह उनमें अपने परमपद को, अपने चरम लक्ष्य को न पाकर पुनः उसकी खोज में आगे बढ़ता है और पहले से सूक्ष्मतर तत्त्व में पहुँचता है। इसी क्रम से जिज्ञासु अपने परमपद को प्राप्त कर उसमें स्थिर हो जाता है जहाँ से उसे लौटने की आवश्यकता नहीं रहती। यही मोक्ष है, यही आनन्द है, इसे ही यहाँ दुःख की चरम निवृत्ति कहा गया है और यही भारतीय दर्शनों का परम ध्येय है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ये सभी दर्शन, चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, परस्पर सापेक्ष हैं और इनमें आगे की ओर एक के बाद दूसरे का स्थान है। परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक दर्शन की नितान्त अपेक्षा है और ये

सभी दर्शन एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं। एक-दूसरे के बिना ये अपने अस्तित्व का समर्थन ही नहीं कर सकते। आगे की अवस्था का बोध प्राप्त करने के लिए पूर्व-पूर्व की अवस्था का पूर्ण परिचय रखना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार, एक-दूसरे से भिन्न मत का प्रतिपादन करने के उपरान्त भी दर्शनों में कोई भी वास्तविक विरोध नहीं है। प्रत्येक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ आवश्यक तादात्म्य बना रहता है।

भारतीय धर्म-परम्परा के उक्त स्वरूप का अवलोकन करने के पश्चात हम कह सकते हैं कि भारतीय धर्म का निरूपण आधुनिक पश्चिमी बुद्धि की ज्ञात परिभाषाओं में से किसी के भी द्वारा नहीं किया जा सकता। अपने समग्र रूप में यह समस्त आध्यात्मिक पूजा और अनुभूति का स्वतंत्र और सहिष्णु समन्वय रहा है। एकमेव सत्य को उसके विभिन्न पार्श्वों से देखते हुए इसने किसी भी पार्श्व के लिए अपने द्वार बंद नहीं किए। इसने न तो अपने को कोई विशेष नाम दिया और न अपने को किसी सीमाकारी पार्थक्य से आबद्ध ही किया। अपने अंगभूत मतों और विभागों के लिए पृथक् नामों को स्वीकार करता हुआ यह स्वयं अपनी चिरन्तन जिज्ञासा के विषय में ब्रह्म की तरह ही नाम-रूप-रहित, विश्वव्यापी और अनंत ही बना रहा। अपने परम्परागत शास्त्रों, पूजा-पद्धतियों और प्रतीकों के स्तर पर अन्य मत-विश्वासों से सुस्पष्टतया भिन्न होता हुआ भी यह अपने मूल स्वरूप में कोई मत-विश्वासात्मक धर्म बिलकुल नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति की एक विशाल, बहुमुखी, एकसूत्रतायुक्त, सदा अभ्युदयशील एवं आत्म-विस्तारशील प्रणाली है।

भारतीय परम्परा की यह शक्ति और कुशलता आज के भारतीय जन को न तो आसानी से दिखती है, न स्वीकारी जाती है। अधिकांश पढ़े-लिखे भारतीयों को अपनी यह शक्ति 'शक्ति' नहीं, कमजोरी दिखती है। अब वह अपने संस्कार और संस्कृति को अपनी जन-शक्ति का स्रोत नहीं मानता, मात्र अपनी पहचान का लक्षण मानने लगा है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा और 'पुनर्जागरण'

भारतीय राष्ट्रीयता का उपक्रम एक सभ्यतायी उपक्रम है। यह सभ्यता की दिशा तय करने वाली दो विश्व-दृष्टियों - सनातन और आधुनिक - के मध्य मूलभूत अंतर के आधार पर तय होने वाला उपक्रम है। आधुनिक विश्व-दृष्टि के विपरीत भारतीय-सनातन परम्परा में जीवन की एकात्मता का आधार वह ऋत् है, जो व्यष्टि और समष्टि के संरचनात्मक सिद्धांत को अभिव्यक्त करता है। ऋत् ही वास्तविकता की वह पृष्ठभूमि है जिसमें व्यष्टि और समष्टि का अन्तर्सम्बंध प्रवाहमान रहता है। ऋत्, जिसे आगे चलकर धर्म कहा गया, इस प्रवाहमान व्यवस्था का प्रतिमान तो है ही, यह इकाईयों में व्यवस्था का कारण भी है। जहाँ एक ओर इन इकाईयों में प्रतिबिम्बित हुए बिना एकात्म की, समग्र की कोई इयत्ता नहीं है, वहीं दूसरी ओर पारस्परिक सम्बद्धता और समग्र से सम्पृक्तता के अभाव में इन इकाईयों की भी कोई महत्ता नहीं है। अतः ऋत् के अनुवर्त्तन का आधार यह मान्यता है कि मनुष्य का सम्यक परिचय उस वृहत् व्यवस्था के सदस्य के रूप में ही मिल सकता है।

दुर्भाग्य से आधुनिक मनुष्य ऋत् की मान्यता का घोर तिरस्कार करता है। वस्तुतः, आधुनिकता की मूल-प्रतिज्ञा ही, जैसा पहले कहा जा चुका है, ऋत् के तिरस्कार पर टिकी है। इसके दो विषम परिणाम होते हैं - एक तो मनुष्य की इच्छाओं का, आवश्यकताओं का किसी परम उद्देश्य से सम्बन्ध टूट जाता है; वे अपने औचित्य का आधार स्वयं बन जाती हैं जो एक आत्म-विरोधी प्रक्रिया है; और दूसरे, आवश्यकताएँ अबाध रूप से बढ़ती ही जाती हैं, वे अन्तहीन हो जाती हैं। इस स्थिति में व्यक्ति - समाज और प्रकृति - दोनों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति का साधन-मात्र मानता है। वह अपनी इस प्राकृतिक अवस्था से प्रेरित होकर शोषक बन जाता है। आनन्द कुमारस्वामी के अनुसार ऐसा प्राकृतिक मनुष्य आध्यात्मिक रूप से नेत्रहीन होता है। अभिनव गुप्त ने इसी अवस्था को अविद्या कहा है।

इस लौह-पिंजरमय आधुनिकता के परिणामस्वरूप जिस 'पुनर्जागरण' (Renaissance) और 'प्रबोधन' (Enlightenment) के युग का आविर्भाव यूरोप में हुआ, उपनिवेशवाद के प्रसार-स्वरूप उसका विस्तार विश्व के अनेक देशों के साथ-साथ भारतवर्ष में भी हुआ। उदयावपात सभ्यताओं की नियति है। भारतीय सभ्यता भी इससे अछूती नहीं रही। बारहवीं शताब्दी से इस सनातन सभ्यता पर विजातीयता की छाया गहरानी शुरु हुई। अठारहवीं शताब्दी तक राज्य और समाज के स्तर पर कमोबेश उथल-पुथल बना रहा, किन्तु भारतीय समाज का अन्दरूनी चरित्र अविचलित रहा।

कारण कि हिन्दू और इस्लाम दोनों सभ्यताओं की दृष्टि परम्परा से अभिप्रेरित थी, इसलिए राजसत्ता के स्तर पर उथल-पुथल और कशमकश का दौर तो बना रहा, किन्तु दोनों सभ्यताओं के अन्दर परम्परागत दृष्टि से अनुस्यूत संस्कृति का रस-प्रवाह न केवल समाज में व्याप्त रहा, वरन् एक दूसरे को प्रभावित भी करता रहा। अठारहवीं शताब्दी के बाद भारतवर्ष के संस्कृति-प्रधान समाज ने एक अपूर्व स्थिति का सामना किया। यह दो परम्पराओं का सम्पर्क नहीं, वरन् परम्परा का आधुनिकता के साथ सीधा टकराव था। इस टकराव के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में जिस तथाकथित पुनर्जागरण का जन्म हुआ उसका चरित्र विलक्षण है। महर्षि अरविन्द ने भारतीय पुनर्जागरण को आधुनिकता का एशियाई संस्करण कहा है जो अनेक दृष्टियों से सत्य भी है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि पुनर्जागरण-काल में आधुनिक पाश्चात्य जीवन-दृष्टि का ही महिमामण्डन नहीं हुआ, वरन् भारतीय संस्कृति के मूलस्वरों की कभी मंद व कभी तीव्र प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है। भारतीय पुनर्जागरण का स्वरूप सोलहवीं शताब्दी के यूरोपीय पुनर्जागरण की भाँति ही जटिल है। दोनों में जहाँ एक ओर इहलोकवाद के प्रति प्रबल आग्रह दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर हमें यूरोपीय और भारतीय पुनर्जागरण के मध्य एक मौलिक अन्तर को भी ध्यान में रखना चाहिए। सोलहवीं शताब्दी के यूरोप के राष्ट्र-राज्य स्वतंत्र थे और वे स्वेच्छा से इहलोकवादी-व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का वरण कर रहे थे। ईसाई जीवन-दृष्टि से विलग होने की उनकी इच्छा आत्म-प्रसूत थी। जबकि उन्नीसवीं शताब्दी का भारत एक पराधीन राष्ट्र था जिस पर आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के जीवनादर्श आरोपित किए जा रहे थे। यह आरोपण संवेदनशील भारतीयों को प्रायः कसमसाहट और पीड़ा से भर देता है तथा अनेक अन्तर्द्वन्द्वों व विरोधाभाषों को जन्म देता है। पुनर्जागरण काल एक क्लान्त-श्रान्त प्राचीन देश में आधुनिकता के बीजारोपण का काल तो है ही, यह भारतीय अस्मिता के सिंहनाद का काल भी है। यह आत्म-विस्मरण का काल भी है और पुनर्स्मरण का भी। यह दिग्भ्रान्ति का काल भी है और दिशा-बोध का भी। यह संविभ्रम (Paranoia) का काल भी है और सम्यक दृष्टि (Metanoia) का भी। एक प्राचीन राष्ट्र अपने नए संरक्षक के प्रति कभी विश्वास तो कभी अविश्वास का भाव लिए गतिमान है, परन्तु अपने गंतव्य को लेकर दुविधाग्रस्त है।

भारत का पुनर्जागरण-काल अनेक विरोधाभाषों का काल रहा है। पुनर्स्मरण और आत्म-विस्मृति, आत्म-गौरव और आत्म-ग्लानि, दृष्टि-बोध और दृष्टिहीनता, विवेक और संभ्रम, प्रतिबद्धता और प्रमाद तथा जागरण और सुसुप्ति- ये सभी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ इस पुनर्जागरण-काल में एक साथ दिखाई देती हैं। इसलिए इसका अन्तिम प्रभाव एक दुविधा को जन्म देता है, जिससे बाहर निकलना ही हम भारतीयों के लिए अपने आत्म-बोध या 'भारत-बोध' के प्रकल्प का वास्तविक उद्येश्य होना चाहिए। इस भारत-बोध को तलाशने का यह कार्य इसलिए भी जटिल है क्योंकि इस पर छाया कुहासा केवल भारतीय परिस्थितियों की ही उपज नहीं है, वरन् इसकी पृष्ठभूमि में 'आधुनिकता' का वह घटाटोप अंधकार है, जिसने न केवल यूरोप को अपने स्वर्णिम अतीत से विमुख किया, वरन् यूरोपीय उपनिवेशवाद के माध्यम से भारतवर्ष को भी दिग्भ्रमित किया। ऐसी स्थिति में हमारे दिग्दर्शन के लिए कुछ इस प्रकार के मनीषी-महापुरुष अधिक उपादेय हो सकते हैं, जिन्हें पारम्परिक और आधुनिक, यूरोपीय और भारतीय, जीवन-दृष्टि का सम्यक्, गहन और व्यापक बोध हो।

औपनिवेशिक काल एक धर्म-प्राण देश के लिए धर्म-संकट का काल था। एक धर्म-प्राण देश अपने को जड़वादी, व्यक्तिवादी और बुद्धिवादी तर्कों एवं मान्यताओं से घिरा पाकर कभी चमत्कृत होता, कभी विस्मित होता, कभी भ्रमित होता कभी विचलित होता, तो कभी व्यथित होता। भारत में पहले मुस्लिम शासन और बाद में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की स्थापना ने एक प्राचीन सभ्यता के सहज प्रवाह को गंदला कर दिया और उसके राजनीतिक-सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त। अठारहवीं सदी में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के प्रवेश और कालान्तर में उसके प्रसार ने हमारी परम्पराओं व आदर्शों के लिए एक विप्लवकारी स्थिति उत्पन्न कर दी। इंग्लैण्ड ने हमें भौतिक रूप से तो पराभूत किया ही, उसके सांस्कृतिक आक्रमण ने हमें आत्मिक एवं बौद्धिक रूप से दुर्बल बना दिया। दर्शन, कला, साहित्य, राजनीति, समाज-व्यवस्था, अर्थनीति आदि सभी पर पश्चिम का रंग चढ़ने लगा। कालजयी संस्कृति काल-पुरुष के आघातों से दग्ध हो गयी।

अंग्रेजों ने भारत पर अपनी राजनीतिक विजय को अपनी सांस्कृतिक एवं प्रजातीय श्रेष्ठता का प्रमाण माना और इसलिए भारतीय संस्कृति का उपहास एवं मान-मर्दन उनकी नीति का महत्वपूर्ण अंग बन गया। अधिकांश पाश्चात्य भारतविद् हमारी ज्ञान-परम्परा एवं जीवन-दृष्टि के प्रति तिरस्कार और घृणा से लवरेज थे। जेम्स मिल, एच.एच. विल्सन, मॉनियर विलियम्स, मॉरिज़ विन्टरनिट्ज़ ने भारतवासियों का चित्रण एक आलसी व काहिल कौम के रूप में किया जिसमें मौलिक,

स्वतंत्र एवं सृजनात्मक चिन्तन की सामर्थ्य नहीं है, जिसे कोई इतिहास-बोध नहीं है और जो मानवीय समानता की विरोधी है। उन्होंने यह मानने से भी इंकार कर दिया कि भारत का कोई अपना स्वदेशी राजनीतिक चिन्तन रहा है। भारत के साम्राज्यवादी शासकों- लार्ड डफरिन, लार्ड कर्ज़न, लार्ड मिन्टो जैसे वायसराय और जार्ज हैमिल्टन जैसे भारत-मंत्री ने अपनी राजकीय घोषणाओं में बार-बार कहा कि भारत एक राष्ट्र है ही नहीं। उनकी दृष्टि में भारत भिन्न-भिन्न धर्मों, जातियों, समुदायों व क्षेत्रों का समूह था जिनके अलग-अलग हित थे और जिन्हें केवल अपने जातीय, धार्मिक अथवा क्षेत्रीय हितों से सरोकार था। उनकी दृष्टि में मैकाले की कूटनीति सफल रही। भारत में अंग्रेज-भक्त काले साहबों का एक बड़ा वर्ग पैदा हो गया जो भारतीय संस्कृति व परम्परा के प्रति शंकालु हो गया, और शनैः-शनैः अपनी प्राचीन सभ्यता के प्रति उपहास, अनास्था और निन्दा के वही भाव रखने लगा जो तथाकथित भारतविद् या हमारे हुक्मरान रखते थे।

इन साम्राज्यवादी शासकों और तथाकथित भारतविदों को उनके राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थों तथा उनके प्रजातीय दंभ ने विवेक और न्याय-बोध से वंचित कर दिया था। फिर उनमें भारत की धर्म-केन्द्रित सभ्यता को सम्यक् रूप से समझने की सांस्कारिक, बौद्धिक एवं नैतिक सामर्थ्य भी नहीं थी। उनकी साम्राज्य-लिप्सा, धन-लिप्सा उन्हें भारत लायी थी। अठारहवीं सदी के फ्रांस के महान दार्शनिक वाल्टेयर ने इन साम्राज्यवादी देशों के अधम उद्देश्य पर बेबाक टिप्पणी की है- ''यूरोप के देश भारत में धन की खोज में गए और इसी में अपने को बर्बाद कर लिया, जबकि प्राचीन यूनान के लोग भारत में ज्ञान की खोज में जाते थे। ... पश्चिम की बर्बर जातियों को जब से भारत की जानकारी हुयी तभी से वे भारत की ओर लालच भरी दृष्टि से देखने लगीं और ज्यों-ज्यों ये बर्बर जातियाँ सभ्य होने लगीं, उनकी नई नई आवश्यकताएं जन्म लेने लगीं।''

भारत में पश्चिमी शिक्षा-पद्धति के आगमन के साथ पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का पठन-पाठन प्रारंभ हुआ, और शीघ्र ही व्यक्तिवादी-उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त एवं संस्थाएं आधिकारिक एवं प्रामाणिक माने जाने लगे। भारत के शिक्षित वर्ग के लिए हॉब्स, मेकियावेली, लॉक, रूसो, जे. एस. मिल, हरबर्ट स्पेंसर जैसे राजनीतिक चिन्तक अधिकारी विद्वान बन गए और उनके सिद्धांत, उनके तर्क और विचार-दृष्टि प्रमाण मानी जाने लगी। राज्य, राष्ट्र, विधि, स्वतंत्रता आदि पर इहलोकवादी दृष्टि से विचार होने लगा और यही दृष्टि अन्ततः 'वैज्ञानिक' दृष्टि घोषित की गयी। उदारवादी लोकतंत्र की संस्थाओं व प्रक्रियाओं में भारत का भावी कल्याण तलाशा जाने लगा। भारत में जो प्रशासनिक और वैधानिक ढाँचा स्थापित किया गया वह इंग्लैण्ड की प्रशासनिक एवं वैधानिक मान्यताओं व संस्थाओं का प्रतिबिम्ब था। 1858 से 1935 तक पारित अधिनियमों के अध्ययन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि न केवल राजनीतिक और वैधानिक संस्थाओं का मूल चरित्र अभारतीय था, वरन् संवैधानिक सुधारों के नाम पर शासन व विधायन के क्षेत्र में भारतीयों को केवल छुटपुट भागीदारी ही प्रदान की जाती थी। राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाओं में भागीदारी की भारतीयों की मांग को सामान्यतः यह कह कर ठुकरा दिया जाता था कि अभी भारतवासी स्व-शासन के योग्य नहीं हैं; और भारत में स्वशासन की मात्रा व समय के निर्धारण का प्रश्न ब्रिटिश शासकों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। विडम्बना यह है कि स्वतंत्रता के उपरान्त इस संशय और द्वन्द्व का इतना विस्तार हुआ कि अब हम निर्द्वन्द्व रूप से विजातीय मानदण्डों व मूल्यों से नियंत्रित व निर्देशित हैं। हमारे राष्ट्रीय मानदण्डों एवं मान-बिन्दुओं का इस प्रकार हाशिये पर ढकेले जाना हतप्रभ कर देता है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने किस प्रकार भारत की आत्मा में विभाजन उत्पन्न कर दिया, किस प्रकार भारतीयों की सोच 'छाया सोच' (Shadow Mind) बनकर रह गयी, किस प्रकार देशभक्त एवं निष्ठावान राजनेता द्वन्द्व एवं दुविधा से ग्रस्त हो गए, इसका अनुमान हम उक्त विचारों से लगा सकते हैं। जिन दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन के द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को प्रसिद्ध 'दोहन सिद्धांत' (Drain Theory) के द्वारा प्रकट किया, जिन गोपाल कृष्ण गोखले ने ब्रिटिश शासन को भारतीयों के नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी माना, वही नौरोजी एवं गोखले ब्रिटिश शासन को 'अखंड शांति' और 'असीम कल्याण' का वाहक भी मानते थे। वस्तुतः, साम्राज्यवाद शासितों को मानसिक रूप से दुर्बल कर देता है। यह दुर्बलता पहले द्वन्द्व/दुविधा में प्रकट होती है और शनैः-शनैः अनुकरण-वृत्ति (Mimicry) में घनीभूत हो जाती है। 'स्व' और 'पर' का यह घालमेल अन्ततः सांस्कारिक और वैचारिक संकरता (Hybridity) को पोषित-पल्लवित करता है। एशिया और अफ्रीका के देशों का विगत लगभग दो सौ वर्षों का इतिहास इसी प्रक्रिया का गवाह एवं प्रमाण है।

पुनर्जागरण-काल के परिणामस्वरूप भारतीय चिन्तनधारा में अनेक नई विचार-दृष्टियों का समावेश हुआ। इनमें से अधिकांश दृष्टियाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अलग-अलग और प्रायः परस्पर विरोधी खाँचे में रखकर देखने की थीं। कुछ पाश्चात्य विचारकों के लिए भारत का सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन कभी भी बहुत आकर्षण का विषय नहीं रहा। इसका कारण था कि भारतीय चिन्तन-परम्परा का स्वभाव आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के लक्षणों को प्रदर्शित नहीं करता। इसलिए वे या तो भारतीय चिन्तन-परम्परा को मिथकीय मानते हैं, अथवा वे इसके प्रति हीनता और उपेक्षा का भाव रखते हैं, या फिर वे इसके अस्तित्व को ही नकार देते हैं। भारत के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जानकारी को आधुनिक पाश्चात्य 'विद्वानों' ने अपने 'पाण्डित्य' के आधार पर 'व्यवस्थित' रूप देने का प्रयत्न किया। भारत पर पश्चिमी उपनिवेशवाद के विस्तार के साथ-साथ इन विद्वानों ने विदेशी सत्ता, उसकी संस्कृति, उसके ज्ञान-विज्ञान, नैतिक आदेश और अपने धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने की दृष्टि से भारतीय संस्कृति, सभ्यता, प्राचीन भारतीय कृतियों और उसके सामाजिक-राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में अपने बौद्धिक साँचे के अनुरूप एक मनःकल्पित चित्र प्रस्तुत किया। 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *ओरियण्टलिज़्म* में एडवर्ड सईद ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ओरियण्टलिज़्म वह यूरोपीय दृष्टि है जो यूरोपीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानने वाले विचारकों ने एशियाई, इस्लामी और अफ्रीकी संस्कृतियों के अध्ययन के लिए स्वीकार की है। यह यूरोपीय मानस में गैर-यूरोपीय संस्कृतियों की एक काल्पनिक संरचना है। इसी काल्पनिक संरचना के सन्दर्भ में उनकी साम्राज्यवादी शासन की नीतियों में संशोधन और परिवर्तन होता रहा है। भारत के प्रति इनकी धारणाएं वही हैं जो गैर-यूरोपीय संस्कृतियों के सम्बन्ध में थीं। बोदां, माण्टेस्क्यू, हीगेल से लेकर मार्क्स तक सभी विचारकों ने अपनी-अपनी मानसिक ग्रन्थियों के अनुरूप भारतीय जीवन-विधान का मनःकल्पित दृश्य प्रस्तुत किया है। इन विचारकों ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को निरंकुशतावादी और भारतीय सामाजिक व्यवस्था को अविकसित माना है। इनके परवर्ती विचारकों यथा मैक्स मूलर, बार्कर, विलोबी तथा डनिंग आदि ने भी भारतीय जीवन-विधान को अलौकिकता-प्रधान और यथार्थ से असम्बद्ध माना है। भारत के प्रति इस साम्राज्यवादी विचार-दृष्टि के विरोध-स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में एक राष्ट्रवादी दृष्टि का भी विकास हुआ। भगवानलाल इन्द्रजी, आर. जी. भण्डारकर, आर.एल. मित्र, उमेश चन्द्र दत्त, पुर्णेन्दु नारायण सिंह, डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल, ए.एस. अल्तेकर, वी.के. सरकार, पी.एन. बनर्जी, के.पी. रंगास्वामी अयंगर, रमेश चन्द्र मजूमदार, शामशास्त्री, ए.एन. लॉ., यू.एन. घोषाल, एस.बी. विश्वनाथ, एस.के. अयंगर, दिक्षितार तथा आर.के. मुखर्जी जैसे विचारकों ने पाश्चात्य आक्षेपों के विविध पक्षों का प्रत्युत्तर देने का प्रयत्न किया। यूरोपीय धारणा के समानान्तर प्राचीन भारत की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की दृष्टि से इन विचारकों की कृतियाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के संचालन में वैचारिक अस्त्र की तरह प्रयोग में लाई गयीं। इन्होंने निश्चित रूप से कुछ भ्रान्तियों का खंडन भी किया, पर उत्साहातिरेक में कई बार ये विचारक यह भूल गए कि यूरोपीय धारणाओं को भारतीय परम्परा में तलाशना स्वतः अपने-आप में एक प्रकार का पूर्वाग्रह है।

राष्ट्रवादी दृष्टि के साथ ही भारतीय जीवन-विधान को देखने-परखने की मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय दृष्टियाँ भी विकसित हुईं। श्रीपाद अमृत डांगे, डी.डी. कोशाम्बी, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर और डी.पी. चट्टोपाध्याय जैसे विचारकों ने मार्क्स और उसके समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित विविध दृष्टियों के आधार पर भारतीय जीवन-विधान की व्याख्या करने की चेष्टा की। अधिकांश मार्क्सवादी विचारक भारतीय जीवन-विधान की बहुआयामिता, उसके विभिन्न सोपानों और लक्ष्यों को एक लौह-पिंजरमय एक-आयामी सिद्धान्त के अनुरूप सिद्ध करने में अनावश्यक जोर-जबरदस्ती करते हुए प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर, चार्ल्स ड्रेकमीयर, एल. दूमां, जे. गोण्डा, जे.सी. हिस्टरमैन तथा एम.एन. श्रीनिवास जैसे विचारक समाजशास्त्रीय, भाषाशास्त्रीय और नृ-शास्त्रीय दृष्टियों का अनुशीलन करते हुए भारतीय समाज की संरचना और गतिशीलता को समझने का यत्न करते हैं। ये विचारक मुख्य रूप से आधुनिक पाश्चात्य समाजशास्त्रीय प्रारूपों को भारतीय अतीत पर आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। आधुनिक भारत के समाज-विज्ञानियों की दृष्टि आज भी यही बनी हुई है।

भारतीय जीवन-विधान अथवा जन-मत को देखने की उपरोक्त पद्धतियों से कुछ मनीषियों को असंतोष भी हुआ। भारतीय सभ्यता के इस सन्धिकाल में कुछ विलक्षण विचारकों का उदय हुआ, जिन्होंने न केवल भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन को बल प्रदान किया, वरन् इतिहास के इस पड़ाव पर भारत के भविष्य को लेकर मार्गदर्शन भी किया। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, रविन्द्रनाथ टैगोर, आनन्द कुमारस्वामी, के.सी. भट्टाचार्य, बद्रीशाह, श्री अरविन्द,

स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, महामहोपाध्याय मोतीलाल शर्मा शास्त्री, म.म. गोपीनाथ कविराज तथा धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज जैसी विभूतियों का भारतीय विचार-व्योम में प्रकट होना दैवीय सम्बल के समान है।

इन विभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करके ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसी विभूतियों ने समसामयिक संदर्भ में अपने सनातन जीवनादर्शों से विचलित न होते हुए अपने मार्ग को खोजने का यत्न किया। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय सनातन परम्परा में इस प्रकार का प्रयास अपने ऋषि-ऋण को चुकाने का प्रयास है। इस विचार में यह तथ्य भी अन्तर्निहित है कि भारतीय परम्परा में किसी भी जननायक अथवा विचारक का महत्व इसी बात में निहित है कि वह अपनी सनातन परम्परा के सत्व की रक्षा के प्रति कितना उद्यत, समर्पित, आग्रही तथा सतर्क है। उक्त सभी विचारकों के महत्व को इसी दृष्टि से समझा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के सभी विचारक समसामयिक सम्दर्भों में अपनी परम्परा की ओर संकेत करने वाले प्रबल संकेतक हैं - इन सभी का महत्व इसीलिए है। इन सभी के प्रति हमारे मन में आदर का भाव इसलिए है क्योंकि अपनी सनातन परम्परा के प्रति हमारी प्रतिबद्धता असंदिग्ध और अटूट है। इसलिए इन विचारकों तथा इनसे संबंधित अवसरों के माध्यम से हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि हम अपनी सनातन परम्परा के जीवनादर्शों को न केवल समझने का यत्न करें वरन् उन्हें जीवन में धारण करने का भी प्रयास करें। अनेकानेक प्रतिकूलताओं के उपरान्त भी मात्र इस संकल्प से बड़ा प्रभाव पड़ सकता है कि आधुनिक और परम्परागत जीवन-दृष्टि में से हमारी प्राथमिकता क्या है। यदि आधुनिक जीवन-दृष्टि और आधुनिक जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता हैं तो ऐसे विचारक और इनके विचार हमें कालबाह्य, अप्रासंगिक और अव्यावहारिक लगने लगेंगे; और यदि परम्परागत जीवन-दृष्टि और तदनुरूप जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता है तो अनेक प्रतिकूलताओं के बीच भी हम इस प्रकार के जीवन के लिए स्थान, समय और उपाय खोज ही लेंगे। इसलिए इन विचारकों के विचारों पर विचार करने से पूर्व हमें अपनी प्राथमिकता सुनिश्चित कर लेनी चाहिए कि अपने आधुनिक जीवन-विधान के बीच इन विचारकों के लिए हम स्थान तलाश रहें हैं अथवा इन विचारकों से मार्गदर्शन प्राप्त करके हम जटिल आधुनिक जीवन के बीच से भी अपने लिए मार्ग बनाना चाहते हैं। हमारे वैचारिक निष्कर्ष और हमारी व्यावहारिक उपलब्धियाँ इसी प्राथमिकता के निर्धारण पर टिके हैं। इन विचारकों के साथ हमारी संगति का आधार यह प्राथमिकता ही है। वैसे तो भारतीय काल-विधान के अनुसार यह कलिकाल है। धर्म के चार चरणों में से एक चरण ही शेष है। धर्म का सांगोपांग, समग्र और व्यापक उन्मीलन संभव नहीं है। द्वन्द्व की स्थिति में रहना हमारी नियति है। किन्तु, हमारी प्राथमिकताएँ, हमारे झुकाव हमारी नियति को एक प्रभावपूर्ण और निर्णायक आयाम देने में सक्षम हैं।

इन परम्परानिष्ठ भारतीय मनीषियों ने यह मौलिक प्रश्न उठाया कि आधुनिक पश्चिमी चिन्तन की अवधारणाओं को प्राचीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन पर आरोपित करना भारतीय चिन्तन के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल है या नहीं? ध्यान देने की बात है कि ये सभी विभूतियाँ अपने चित्त और मानस के स्तर पर भारतवर्ष की सनातन परम्परा में रची बसी तो थीं ही, इन्हें आधुनिक पश्चिमी/यूरोपीय मनोवृत्ति की निर्मिति के काल-क्रम का भी भली-भाँति बोध था। इन विभूतियों ने भारतवर्ष को वैचारिक संक्रमण या दुविधा के इस काल से बाहर निकलने का युक्ति-युक्त मार्ग सुझाया। ये सभी विभूतियाँ एक साथ भारत-बोध और सभ्यता-बोध से सुसम्पन्न थीं। तिलक ने अपने *गीता-रहस्य* के माध्यम से, विवेकानन्द ने अपने 'कर्मयुक्त वेदान्त' के माध्यम से, गांधी ने अपने *हिन्द स्वराज* के माध्यम से, कुमारस्वामी ने अपने *Essays in National Idealism* के माध्यम से, टैगोर ने भारत, जापान और पश्चिम में राष्ट्रवाद सम्बन्धी अपने भाषणों के माध्यम से, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने *Swaraj in Ideas* के माध्यम से, बद्रीशाह ने *दैशिक-शास्त्र* के माध्यम से तथा श्रीअरविन्द ने *Foundations of Indian Culture* के माध्यम से इसी भारत-बोध और विश्व-बोध को संसूचित करने की चेष्टा की। द्रष्टव्य है कि ये सभी विचारक भारत-बोध के नाम पर अपनी राष्ट्रीय विशिष्टता का सांगोपांग संपोषण करते हुए भी न तो कभी संकीर्णता के शिकार हुए और न ही विश्व-बोध के नाम पर संपूर्ण सृष्टि के साथ एक स्वाभाविक तारतम्य स्थापित करते हुए भी कभी अमूर्तता और अव्यावहारिकता के शिकार हुए। लोकमान्य तिलक अपनी अनुपम कृति *गीता रहस्य* में *श्रीमद्भगवत्गीता* में सभी सनातन शास्त्रों, मतों, पंथों, सम्प्रदायों की 'एकवाक्यता' को सिद्ध करते हुए भी औपनिवेशिक दौर में नीतियुक्त कर्मयोग को ही भारतीयों का वांछित धर्म घोषित करते हैं। इसी प्रकार, महात्मा गांधी अपनी कालजयी कृति *हिन्द स्वराज* में जहाँ एक ओर आत्ममुग्ध पश्चिमी जगत द्वारा व्यवहृत सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की निःसारता को सिद्ध करते हुए एक प्रकार से यूरोपीय पुनर्जागरण (Renaissance) और ज्ञानोदय (Enlightenment)

के परिणामस्वरूप उपजे उनकी सम्पूर्ण ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) को ही चुनौती देते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी सनातन सभ्यता और संस्कृति के प्रति भारतीयों के आत्मविश्वास को पुनर्सृजित भी करते हैं। आनन्द कुमारस्वामी का मानना था कि परम्परागत भारतीय चिन्तन में कुछ ऐसे प्रत्यय और अवधारणाएँ हैं जिनके प्रयोग से ही हम उस चिन्तन को ठीक प्रकार समझ सकते हैं। इसलिए यह मानकर चलना कि पश्चिम का जो अनुभव है वह सार्वकालिक और सार्वभौम है; भ्रान्तिपूर्ण है। इसी कारण उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन अथवा पूरी परम्परा के सैद्धान्तिक आलोक में सामाजिक संरचना, संस्कृति और सभ्यता को समझने के लिए परम्परा में ही निहित प्रत्ययों और अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया। कुमारस्वामी ने सनातन दर्शन को प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, चिन्तन, कला, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन का आधार माना है। उनकी जितनी भी व्याख्यायें हैं वे मूलतः सनातन परम्परा की स्थापनाओं को स्वीकार कर प्रस्तुत की गयी हैं। कुमारस्वामी दुर्लभ अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न प्रतिभा के धनी थे और उन्होंने चीनी, अरबी, यूनानी, रोमन और मध्यकालीन यूरोपीय परम्पराओं में अनुस्यूत अन्तर्दृष्टि की गहन मीमांसा प्रस्तुत की है। अपनी इसी अन्तर्प्रज्ञा के आधार पर उन्होंने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और उसके प्रभाव की भी गहन अन्तर्आलोचना प्रस्तुत की है। कुमारस्वामी के अनुसार, आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता व्यक्ति के मांसल पक्ष को महत्व देती है। मांसलता के साथ संपृक्त हैं उसके संवेग, परिस्थितिजन्य प्रतिक्रियाएँ, ऐन्द्रिक अनुभव और राग-द्वेष। आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के केन्द्र में इहलौकिकता प्रतिष्ठित है- यह कुमारस्वामी का मूल निष्कर्ष है। इसी निष्कर्ष के सापेक्ष उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, दर्शन, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन की व्याख्या सनातन दर्शन के मूल सिद्धान्तों के आलोक में प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार भारतीय जीवन-दृष्टि इन्हीं सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, और उसी की अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिलक्षित होती है।

इस प्रकार, आनन्द कुमारस्वामी इस बात के प्रति आग्रहशील हैं कि भारतीय चिन्तन- दार्शनिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक- आधुनिक पश्चिमी सिद्धान्तों के आलोक में बोधगम्य नहीं हो सकता। इसीलिए आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के सैद्धान्तिक स्वरूप जैसे प्राकृतिक अवस्था, अनुबन्ध सिद्धान्त, राजाओं के दैवी अधिकार आदि को प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए लागू नहीं करना चाहिए। जिन यूरोपीय अथवा भारतीय विचारकों ने ऐसा किया है वे प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की सम्यक व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं। प्रायः उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों को भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के बाह्य कलेवर के ऊपर अध्यारोपित कर दिया; और इसप्रकार वे भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की मूल अभिप्रेरणाओं की व्याख्या करने में असमर्थ रहे। यह असमर्थता राष्ट्रवादी उपागम द्वारा प्रस्तुत भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की व्याख्याओं में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति और चिन्तन को अविकसित माना था। उनके लिए पश्चिमी चिन्तन और उसके प्रत्यय विकसित समाज के मानक हैं। ऐसे विचारकों को चुनौती देने की दृष्टि से राष्ट्रवादी मनीषियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यूरोपीय सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों या सिद्धान्तों का बोध प्राचीन भारतीयों को भी था और उसी दृष्टि से उन्होंने अपनी सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ संरक्षित की थीं। उन्होंने चुनौती का जवाब देने की कोशिश तो की, किन्तु वे यह भूल गए कि अनजाने में उन्होंने भी यूरोपीय प्रत्ययों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली है। आनन्द कुमारस्वामी ने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन वस्तुतः आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है। इस यथार्थ को न समझते हुए केवल यूरोपीय प्रत्ययों के आलोक में अपनी उपलब्धियों को व्याख्यायित करना समूची भारतीय जीवन-प्रणाली को ही प्राणहीन बना देता है। कारण कि जिन यूरोपीय प्रत्ययों को स्वीकृति प्रदान की जाती है वे तो उन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं जो सार्वजनिक जीवन में आध्यात्मिकता और नैतिकता को निषेधित करती हैं।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर कुमारस्वामी ने परम्परानिष्ठ चिन्तन की मूलभूत अभिप्रेरणाओं को निरूपित किया है। अपनी पुस्तक *Spiritual Authority and Temporal Power in Indian Theory of Government* में उन्होंने सनातन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को निरूपित करते हुए उनके माध्यम से पारम्परिक भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की तात्त्विक अभिव्यक्ति को प्रकट किया है। उनके अनुसार भारतीय पाणिग्रहण संस्कार के मंत्र में समाहित मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि या इन्द्र-बृहस्पति जैसे युग्म-प्रत्यय सृष्टि, राज्य और परिवार तीनों ही स्तरों पर अनिवार्य अविच्छिन्न

सम्बन्ध के द्योतक हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इन्हीं अर्थों में ब्रह्म और क्षत्र का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। ब्रह्म धर्म का और क्षत्र राजसत्ता का प्रतीक है।

उल्लेखनीय है कि कुमारस्वामी ने प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य के स्वरूप की भी व्याख्या की है। मनुष्य के स्वरूप के अनुरूप ही लौकिक संस्थाओं का भी विधान किया जाता है। ये संस्थाएँ मनुष्य के आत्म-विकास में सहायक और उसकी पथ-प्रदर्शक हैं। सनातन दृष्टि में मनुष्य की अवधारणा मात्र शरीर के रूप में नहीं की गयी है। वह इससे इतर भी कुछ है, जो इतर है वह उसका अन्तःस्थ स्वरूप है। वह आत्म-सम्पन्न है, और उसका आत्मिक स्वरूप शारीरिकता में बाँधा नहीं जा सकता। उसका बोध सनातन संस्कृति में साधना-सुलभ माना गया है, किन्तु जिनके लिए यह सुलभ नहीं है उनके लिए आर्षवाणी और ऋषियों, सन्तों तथा योगियों की अनुभूति ही प्रमाण्य है। आध्यात्मिकता का उत्स मनुष्य की आत्मिकता है। उसके जीवन का लक्ष्य शारीरिक अथवा ऐन्द्रिक तृप्ति नहीं है, बल्कि उस सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि है जिसे आत्मबोध कहा गया है। आत्मोपलब्धि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। इसे ही केन्द्र में रखकर भारतीय संस्कृति ने इस लक्ष्य के अनुरूप मुल्य-श्रृंखला सृजित की है। मूल्य कोई भी हो उसे बाह्य जीवन में सांकेतिक अभिव्यक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए संस्कृति का पूरा विधान सांकेतिक विधान है। इन संकेतों या प्रतीकों का अध्ययन भौतिक वस्तु मानकर नहीं किया जा सकता। यह विचारों और मूल्यों से सज्जित विधान है। संस्कृतियों की पहचान उनके मूल-विधान से होती है। उनके बाह्य रूप में बहुत कुछ ऐसा है जो दूसरी संस्कृतियों के बाह्य रूपों के समान है। जीवन-यापन के लिए कृषि कर्म, वस्तुओं को गढ़ने-बनाने के लिए औजारों का प्रयोग, यातायात के साधन- ये सब विविध संस्कृतियों में समान दिखाई दे सकते हैं। पर जहाँ ये संस्कृतियाँ असमान हैं वह है उनका मूल-विधान। किसी भी संस्कृति का बोध तब तक अधूरा है जब तक हम उस मूल-विधान से परिचित न हों जिसे मनुष्य अपने जीवन में उतारने पर कृतार्थता अनुभव करे। आत्मोपलब्धि के इस लक्ष्य का कोई साधारणीकृत वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं हो सकता; पर वह इसलिए प्रामाणिक है कि वह योगियों, संन्यासियों और सन्तों की स्वानुभूति है। उनका साक्ष्य ही प्रमाण है। यह उन सभी लोगों के लिए भी प्रामाणिक हो सकता है जो इस लक्ष्य के अनुरूप साधनारूढ़ हों। इसे ही आत्मानुशासन कहा गया है और इसी आत्मानुशासन की लब्धि आत्मजय और स्वराज है। कुमारस्वामी के अनुसार किसी राष्ट्र की निर्मिति में राजनीति और विपणन-व्यापार की अपेक्षा कला और विद्या की साधना को मुख्य महत्व प्रदान करते हैं। वे लिखते हैं :

It is because nations are made by artists and by poets, not by traders and politicians.

परम्परानिष्ठ भारतीय मनीषी पश्चिमी राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ-साथ राज्य और व्यक्ति के संबंधों का भी गहन विश्लेषण करते हैं और वे आधुनिक पश्चिमी मानदण्डों की सार्वभौमिकता के दावे को सिरे से नकार देते हैं। ज्ञान की अक्षुण्ण परम्परा में मनुष्य-मात्र की भागीदारी का समर्थन तो वे करते हैं, किन्तु अपने विशिष्ट अतीत और अपने विशिष्ट राष्ट्रीय सन्दर्भों का उनके लिए विशेष महत्व है। वे पश्चिमी राष्ट्रवाद और विश्वशांति तथा लोकतंत्र और समाजवाद की अवधारणाओं के मध्य विसंगति भी रेखांकित करते हैं, और इन सबके सापेक्ष भारतीय संस्कृति को तादात्म्यमूलक और एकात्मपरक मानते हैं। परम्परागत भारतीय संस्कृति में अपने मूलभाव तथा जीवन सम्बन्धी अपने विचार को कार्यरूप देने के लिये वर्णाश्रमधर्म-विधान है। वस्तुतः 'संस्कृति' शब्द का तात्पर्य ही भूषणभूत सम्यक कृतियों या चेष्टाओं का सार-समुच्चय है। भूषणभूत सम्यक् कृतियों या चेष्टाओं का सम्पूर्ण क्षेत्र ही संस्कृति का क्षेत्र है। जिन चेष्टाओं के द्वारा मनष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिये भूषणभूत सम्यक् चष्टाएँ कही जा सकती हैं। अथवा, मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल चेष्टाएँ ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चष्टाएँ हैं। या, मनष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय के अनुकूल देहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। देहेन्द्रिय की समस्त चेष्टाएँ 'आचार' के क्षेत्र में और मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चष्टाएँ 'विचार' के क्षेत्र में आती हैं, इसलिए संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।

लगभग इसी प्रकार के विचार रविन्द्रनाथ टैगोर के हैं। 1916-17 के मध्य जापान और अमेरिका में दिए गए अपने भाषणों में भारतीय राष्ट्र की बुनियादी मान्यताओं का वे विशद विश्लेषण करते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि-

Our real problem in India is not political. It is social. In finding the solution of our problem we shall have helped to solve the world problem as well.

The temptation which is fatal for the strong is still more so for the weak. And I do not welcome it in our Indian life even though if be sent by the lord of the Immortals. Let our life be simple in its outer aspect and rich in its inner gain. Let our civilization take its firm stand upon its basis of social cooperation and not upon that of economic exploitation and conflict. It is a sign of laziness and impotency to accept conditions imposed upon us by others who have other ideals than ours. We should actively try to adapt the world powers to guide our history to its own perfect end.

टैगोर के ही समकालीन कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य विचार-जगत में सनातन और सापेक्ष के अनुपात का आंकलन स्वदेशी की तद्व्याप्त अवधारणा के सहारे करते हैं। वे भारतीयों को एक साथ सचेत और आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि-

The hybridisation of ideas brought about by our education and the impact of Western political, social and economic institutions on our daily life is one of the most distressing features of our present situation. It does not simply mean a confusion in the intellectual region. All vital ideas involve ideals. They embody an entire theory and an insight into life. Thought or reason may be universal, but ideas are carved out of it differently by different cultures according to their respective genius. No idea of one cultural language can exactly be translated in another cultural language. Every culture has its distinctive 'physiognomy' which is reflected in each vital idea and ideal presented by the culture.

जहाँ तक श्रीअरविन्द का प्रश्न है, उनका अवतरण भारतीय विचार-प्रवाह के ऐसे संधिकाल में होता है जब 'भारतीय पुनर्जागरण' से सम्बद्ध सभी गुत्थमगुत्था धाराएँ बड़े वेग से प्रवाहमान हो रही थीं। इस प्रवाहमान वेग में हम अपनी बहुत सारी विशेषताओं को विस्मृत या अर्थान्तरित करते चले गए, किन्तु साथ ही अपनी बहुत सारी विशिष्टताओं का पुनर्स्मरण करने और उन्हें प्रतिष्ठित करने की ओर उद्यत भी हुए। श्रीअरविन्द प्राच्य और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं की बौद्धिक विशेषताओं और सामाजिक गतिशीलता के अप्रतिम अध्येता रहे हैं। इसी कारण उनकी प्रामाणिकता हमारे लिए असंदिग्ध है और उनकी उपादेयता व्यापक।

श्रीअरविन्द ने अपनी पुस्तक *Foundations of Indian Culture* में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के ऊपर विलियम आर्चर द्वारा किए गए आक्षेपों का विशद प्रत्युत्तर दिया है। विलियम आर्चर ने भारतीय जन के सम्पूर्ण जीवन एवं संस्कृति पर आक्रमण करते हुए उसकी महान से महान उपलब्धियों यथा दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद्, रामायण और महाभारत सभी को एक साथ एक ही कोटि में रखकर सभी के बारे में यह कह डाला कि ये 'अवर्णनीय बर्बरता का एक घृणास्पद स्तूप' है। आर्चर के इस आक्रामक आक्षेप का प्रतिवाद करने के लिए श्रीअरविन्द ने अपनी इस पुस्तक में जहाँ भारतीय आध्यात्मिकता, कला, साहित्य और शासन-प्रणाली जैसे आधारभूत विषयों पर सारगर्भित, व्यवस्थित और विशद व्याख्या प्रस्तुत की, वहीं उन्होंने भारतीय संस्कृति पर पड़ने वाले बाह्य प्रभाव का भी समीचीन आंकलन किया है। तत्कालीन सन्दर्भों के परे श्रीअरविन्द का शाश्वत महत्व इस तथ्य में निहित है कि आज भी आधुनिकता की चकाचौंध और उत्तर-आधुनिकता की छिन्न-भिन्न मान्यताओं से आक्रान्त एक भारतीय अपनी प्रेरणाओं और अपने गन्तव्य के प्रति घनघोर मतिभ्रम का शिकार है।

स्वातन्त्रयोत्तर भारत में केवल पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसे विचारक दिखायी देते हैं जो इन शाश्वत महत्व के विषयों पर व्यवस्थित रूप से विचार करते हैं। अप्रैल 1965 में बम्बई में दिए गए उनके चार व्याख्यानों को प्रत्येक विद्यार्थी, शिक्षक, नीति-निर्माता, विचारक और राजनेता को अवश्य पढ़ना चाहिए। 'एकात्म मानववाद' के रूप में भारतीय जन-मत के प्रतिपादन के क्रम में उन्होंने भारतीय इतिहास-बोध, राष्ट्र-बोध और विश्व-बोध का जो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध उद्घाटित किया है, वैसा अध्ययन या वैसी प्रस्तुति स्वतंत्र भारत के राजनेताओं के लिए दुर्लभ है। जे.पी. आन्दोलन के बाद यह अंधकार और भी घनीभूत होता दिखायी देता है।

दीनदयालजी एकात्म मानववाद के विचार-निरूपण में हमारी प्राथमिकताएँ और हमारे झुकाव ही स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं। एकात्म मानववाद के संदर्भ में अर्थ, लोक और राजनीति की भारतीय दृष्टि को सुनिश्चित करने का उनका यह प्रयास वस्तुतः हमारे आत्म-बोध या भारत-बोध की गवेषणा का पुनर्प्रयत्न है। एकात्म मानववाद का विचार

पण्डितजी ने सर्वप्रथम 22 से 25 अप्रैल, 1965 को बम्बई में दिए गए अपने चार व्याख्यानों में व्यक्त किया। अपने पहले ही व्याख्यान में उन्होंने गांधीजी के *हिन्द-स्वराज* और लोकमान्य तिलक के *गीता-रहस्य* का उल्लेख किया है। इन दोनों कृतियों को वे भारत की भविष्य-दृष्टि को सुनिश्चित करने के सभ्यतापरक प्रयास के रूप में देखते हैं। सर्वप्रथम वे राष्ट्र की वस्तुस्थिति के संबंध में अपनी राय व्यक्त करते हुए पिछले एक हजार वर्षों के ऐतिहासिक प्रवाह पर दृष्टिपात करते हैं।

इसके उपरान्त दीनदयालजी लोकतंत्र और समाजवाद के पाश्चात्य इतिहास के माध्यम से राजनीति और अर्थनीति के संबंध में आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि का विशद परीक्षण करते हैं। दीनदयालजी पश्चिमी राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ-साथ राज्य और व्यक्ति के संबंधों का भी गहन विश्लेषण करते हैं और वे आधुनिक पश्चिमी मानदण्डों की सार्वभौमिकता के दावे को सिरे से नकार देते हैं। ज्ञान की अक्षुण्ण परम्परा में मनुष्य-मात्र की भागीदारी का समर्थन तो वे करते हैं, किन्तु अपने विशिष्ट अतीत और अपने विशिष्ट राष्ट्रीय सन्दर्भों का उनके लिए विशेष महत्व है। वे पश्चिमी राष्ट्रवाद और विश्वशांति तथा लोकतंत्र और समाजवाद की अवधारणाओं के मध्य विसंगति भी रेखांकित करते हैं और इन सबके सापेक्ष भारतीय संस्कृति को तादात्म्यमूलक और एकात्मपरक मानते हैं। दीनदयालजी अनेकता में एकता और एकता से उद्भूत अनेकता की सहगामी भारतीय धारणा के सहारे एकात्मता की भारतीय दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। इस क्रम में वे धर्म और नीति, शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा, पुरुषार्थचतुष्ट्य आदि सनातन भारतीय प्रत्ययों का स्वरूप-निदर्शन भी करते चलते हैं।

राष्ट्र का स्वरूप-निदर्शन करते हुए दीनदयालजी कहते हैं कि राष्ट्र किसी भी भौतिक क्षेत्र-विशेश में लोगों के सहअस्तित्व से बढ़कर है। सनातन दृष्टि के अनुसार राष्ट्र का एक अर्थ 'ग्राम' किया गया है। ग्राम से तात्पर्य ऐसे स्थान से है जहाँ व्यक्ति को विश्रान्ति प्राप्त हो सके और विश्रान्ति व्यक्ति को वहीं प्राप्त हो सकती है जहाँ की प्रकृति के साथ उसका स्वाभाविक आत्मीय तादात्म्य स्थापित हो सके। इसी अभिप्राय से राष्ट्र उस भूमि को कहा गया है जिसके साथ व्यक्ति का मातृसम ममत्व स्थापित हो सके। दीनदयाल जी राष्ट्र की भी आत्मा स्वीकारतें हैं। उनके अनुसार चिति राष्ट्र की आत्मा है। दीनदयालजी इस सनातन भारतीय दृष्टि को पुनर्पुष्ट करते हैं कि संस्कृति चिति का लोकविग्रह है और राष्ट्र संस्कृति का अधिष्ठान। चिति, राष्ट्र, व्यक्ति और व्यापक मनुष्यता के अन्तर्सम्बंध को भी वे स्पष्ट करते हैं।

अर्थायाम की चर्चा करते हुए दीनदयालजी समकालीन परिस्थितियों में पूंजी, मशीन और प्रबंधन जैसे विषयों को भी उठाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साठ और सत्तर के दशक तक जो राजनेता भारतीय राजनीति के पटल पर उदित हुए उन्हें विश्व-इतिहास और सभ्यताओं के प्रवाह का एक क्रमबद्ध और सुसंबद्ध बोध था। उस पूरे परिप्रेक्ष्य के सापेक्ष वे तत्कालीन भारतवर्ष को रखने-देखने का प्रयास करते थे। दुर्भाग्य से जे.पी. आन्दोलन के बाद भारतवर्ष में राजनेताओं की एक ऐसी नस्ल पैदा हुई जो विश्व-इतिहास कौन कहे, अपनी ही सभ्यता-संस्कृति के प्रति या तो बेगानी थी या फिर आत्म-ग्लानि से भरी हुई। दीनदयालजी के ये व्याख्यान इतने व्यवस्थित, सुसंबद्ध और बोधगम्य हैं कि इन्हें किसी भी संवेदनशील नागरिक, राजनेता, नीति-निर्माता, शिक्षक या विद्यार्थी को अवश्वयमेव पढ़ना चाहिए।

दीनदयालजी की विचारशैली की एक और विशेषता की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। अपने विचार-प्रवर्त्तन के दौरान वे भारतीय और विश्व-इतिहास के महत्वपूर्ण प्रकरणों को भी सामने रखते हैं। इस पद्धति से वे न केवल अपने विचारों को इतिहास के सूत्रों के माध्यम से भी स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं, वरन् इतिहास को एक विचारवान व्यक्ति को कैसे देखना चाहिए, इसकी ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

भारतीय परम्परा में जाति-व्यवस्था के सामाजिक प्रश्न को भी वे सनातन दृष्टि से ही स्पष्ट करते हैं। वे जातियों को भी एकात्मक परम विराट की ही अभिव्यक्ति मानते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि भारतीय जीवन-विधान का आधार ही वर्णाश्रम और पुरुषार्थचतुष्ट्य है। ब्रह्म का त्रिगुणात्मक विवर्त्त और कर्म का सिद्धांत जहाँ वर्णाश्रम के परातात्त्विक (Metaphysical) आधार हैं, वहीं ऋणत्रय का सिद्धांत पुरुषार्थचतुष्ट्य का। इसीलिए यह अनायास नहीं है कि राजशास्त्र का स्वरूप-निदर्शन करते हुए इसके आचार्यों ने भारतीय जीवन-विधान के इन आधारों की रक्षा को राज्य का परम दायित्व बताया है। जीवन के समस्त क्षेत्रों में वेदादिशास्त्रानुकूल आचार-विचार की व्यवस्था का सक्रिय रूप वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्था में ही प्राप्त होता है। अतः वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार ही इस संस्कृति का मुख्य अधिष्ठान रहा है।

इसलिए वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा कला-कौशल, भाषा, वेषभूषा, उपासना आदि सम्बन्धी समस्त हलचलें या आचार-विचार वर्णाश्रमधर्मानुकूल हों- यही इस संस्कृति का आदर्श स्वीकृत किया गया। भारतीय दृष्टि से धर्म, संविधान, संस्थाओं और राजधर्म के स्वरूप का दीनदयालजी व्यापक विश्लषण करते हैं। दीनदयालजी द्वारा प्रस्तुत एकात्म मानववाद की दृष्टि से राजनीति, लोक और अर्थ के भारतीय मर्म को समझने के लिए दृष्टि का परिमार्जन बहुत आवश्यक है।

आत्मबोधमूलक भारतीय ऋषि-परम्परा

इन विद्वानों के अनुसार, भारतीय ऋषि-परम्परा वाक्-केन्द्रित परम्परा है। यह परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी माता-पिता से संतान को तथा गुरु से शिष्य को सौंपी जाती रही है। सौंपने वाले को सौंपने की एवं ग्रहण करने वाले को ग्रहण करने की पात्रता या क्षमता प्राप्त करनी होती है। भारतीय परम्परा में नियम, विधि और भाव का महत्व इनकी प्रस्तुति के माध्यम में निहित है। पश्चिमी समाज की तुलना में भारत में संस्था-बद्धता को अधिक महत्व नहीं मिला है, चाहे वह संस्था धर्म की हो, राज्य की हो अथवा समाज की हो। स्वामी करपात्रीजी के अनुसार किसी भी धर्माचार्य या किसी भी शासक या किसी भी समुदाय-नायक का महत्व बस इतनी ही दूर तक है कि वह परम्परा की स्मृति सुरक्षित रखने में कितना तत्पर है। इन परम्परानिष्ठ भारतीय मनीषियों ने यह मौलिक प्रश्न उठाया कि आधुनिक पश्चिमी चिन्तन की अवधारणाओं को प्राचीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन पर आरोपित करना भारतीय चिन्तन के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल है या नहीं? परम्परागत भारतीय चिन्तन में कुछ ऐसे प्रत्यय और अवधारणाएँ हैं जिनके प्रयोग से ही हम उस चिन्तन को ठीक प्रकार समझ सकते हैं। इसलिए यह मानकर चलना कि पश्चिम का जो अनुभव है वह सार्वकालिक और सार्वभौम है; भ्रान्तिपूर्ण है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन अथवा पूरी परम्परा के सैद्धान्तिक आलोक में सामाजिक संरचना, संस्कृति और सभ्यता को समझने के लिए परम्परा में ही निहित प्रत्ययों और अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिए।

भारतीय चिन्तन - दार्शनिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक - आधुनिक पश्चिमी सिद्धान्तों के आलोक में बोधगम्य नहीं हो सकता। इसीलिए आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के सैद्धान्तिक स्वरूप, जैसे प्राकृतिक अवस्था, अनुबन्ध सिद्धान्त, राजाओं के दैवी अधिकार आदि को प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए लागू नहीं करना चाहिए। जिन यूरोपीय अथवा भारतीय विचारकों ने ऐसा किया है वे प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की सम्यक व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं। प्रायः उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों को भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के बाह्य कलेवर के ऊपर अध्यारोपित कर दिया; और इस प्रकार वे भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की मूल अभिप्रेरणाओं की व्याख्या करने में असमर्थ रहे। यह असमर्थता राष्ट्रवादी उपागम द्वारा प्रस्तुत भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की व्याख्याओं में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति और चिन्तन को अविकसित माना था। उनके लिए पश्चिमी चिन्तन और उसके प्रत्यय विकसित समाज के मानक हैं। ऐसे विचारकों को चुनौती देने की दृष्टि से राष्ट्रवादी मनीषियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यूरोपीय सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों या सिद्धान्तों का बोध प्राचीन भारतीयों को भी था और उसी दृष्टि से उन्होंने अपनी सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ संरक्षित की थीं। उन्होंने चुनौती का जवाब देने की कोशिश तो की, किन्तु वे यह भूल गए कि अनजाने में उन्होंने भी यूरोपीय प्रत्ययों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली है। आनन्द कुमारस्वामी ने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन वस्तुतः आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है। इस यथार्थ को न समझते हुए केवल यूरोपीय प्रत्ययों के आलोक में अपनी उपलब्धियों को व्याख्यायित करना समूची भारतीय जीवन-प्रणाली को ही प्राणहीन बना देता है। कारण कि जिन यूरोपीय प्रत्ययों को स्वीकृति प्रदान की जाती है वे तो उन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं जो सार्वजनिक जीवन में आध्यात्मिकता और नैतिकता को निषेधित करती हैं।

मनुष्य के स्वरूप के अनुरूप ही लौकिक संस्थाओं का भी विधान किया जाता है। ये संस्थाएँ मनुष्य के आत्म-विकास में सहायक और उसकी पथ-प्रदर्शक हैं। सनातन दृष्टि में मनुष्य की अवधारणा मात्र शरीर के रूप में नहीं की गयी है। वह इससे इतर भी कुछ है, जो इतर है वह उसका अन्तःस्थ स्वरूप है। वह आत्म-सम्पन्न है, और उसका आत्मिक स्वरूप

शारीरिकता में बाँधा नहीं जा सकता। उसका बोध सनातन संस्कृति में साधना-सुलभ माना गया है, किन्तु जिनके लिए यह सुलभ नहीं है उनके लिए आर्षवाणी और ऋषियों, सन्तों तथा योगियों की अनुभूति ही प्रमाण्य है। आध्यात्मिकता का उत्स मनुष्य की आत्मिकता है। उसके जीवन का लक्ष्य शारीरिक अथवा ऐन्द्रिक तृप्ति नहीं है, बल्कि उस सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि है जिसे आत्मबोध कहा गया है। आत्मोपलब्धि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। इसे ही केन्द्र में रखकर भारतीय संस्कृति ने इस लक्ष्य के अनुरूप मूल्य-श्रृंखला सृजित की है। मूल्य कोई भी हो उसे बाह्य जीवन में सांकेतिक अभिव्यक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए संस्कृति का पूरा विधान सांकेतिक विधान है। इन संकेतों या प्रतीकों का अध्ययन भौतिक वस्तु मानकर नहीं किया जा सकता। यह विचारों और मूल्यों से सज्जित विधान है। संस्कृतियों की पहचान उनके मूल-विधान से होती है। उनके बाह्य रूप में बहुत कुछ ऐसा है जो दूसरी संस्कृतियों के बाह्य रूपों के समान है। जीवन-यापन के लिए कृषि-कर्म, वस्तुओं को गढ़ने-बनाने के लिए औजारों का प्रयोग, यातायात के साधन- ये सब विविध संस्कृतियों में समान दिखाई दे सकते हैं। पर जहाँ ये संस्कृतियाँ असमान हैं वह है उनका मूल-विधान। किसी भी संस्कृति का बोध तब तक अधूरा है जब तक हम उस मूल-विधान से परिचित न हों जिसे मनुष्य अपने जीवन में उतारने पर कृतार्थता अनुभव करे। आत्मोपलब्धि के इस लक्ष्य का कोई साधारणीकृत वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं हो सकता; पर वह इसलिए प्रामाणिक है कि वह योगियों, संन्यासियों और सन्तों की स्वानुभूति है। उनका साक्ष्य ही प्रमाण है। यह उन सभी लोगों के लिए भी प्रामाणिक हो सकता है जो इस लक्ष्य के अनुरूप साधनारूढ़ हों। इसे ही आत्मानुशासन कहा गया है और इसी आत्मानुशासन की लब्धि आत्मजय और स्वराज है।

बीसवीं सदी के परम्परानिष्ठ भारतीय विद्वानों ने आधुनिकता की वेगवान आंधी के बीच सनातन विद्या तथा शाश्वत परम्परा पर आधारित भारतीय जनमत के टिमटिमाते दीपक की लौ को अंधकार में विलीन न होने देने के लिए अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया। लखनऊ समाजशास्त्रीय पीठ, लखनऊ विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान प्रोफेसर ए.के. सरन आरम्भ से लगभग आधी शताब्दी तक आधुनिक पश्चिमी विचारधाराओं तथा उन पर आधारित समाज-विज्ञानों की आधारभूत मान्यताओं की आन्तरिक विसंगतियों की निर्मम आलोचना करते रहे हैं। उनका निश्चित मत रहा कि बौद्धिक जगत से जब तक आधुनिक मिथ्या दृष्टियों का आवरण हट नहीं जाता तब तक मनुष्य और उसके समाज को कल्याण व अभ्युदय के मार्ग में ले जाने वाली शास्त्रीय विद्याओं का सम्मान नहीं हो सकता। वास्तव में लौकिक शास्त्रों का सम्यक आधार वह सार्वभौम व सनातन विद्या ही हो सकती है जो सांकेतिक परम्परा (Symbolic Tradition) के रूप में देशगत तथा कालगत भिन्नताओं के अनुरूप विविध कलेवरों में मानव-समाज में सर्वत्र विद्यमान रही है। इसके विपरीत, प्रोफेसर सरन ने पाया कि समाजशास्त्र (मूलतः जिस विषय के वे विद्यार्थी तथा शिक्षक रहे) तथा अन्य समाज-विज्ञान आधुनिक पश्चिमी-औद्योगिक-साम्राज्यवादी सभ्यता के क्रोड से उत्पन्न हुए हैं, और उनका उद्देश्य भी उसी सभ्यता का रक्षण तथा संवर्धन करना है। प्रोफेसर सरन की दृष्टि में आधुनिक सभ्यता पश्चिम के आधिपत्य को विश्वव्यापी बनाने के लिए अनेक तरीके अपनाती है। आधुनिक समाज-विज्ञान भी उसके इसी अभियान का एक अंग मात्र है। सभी गैर-पश्चिमी संस्कृतियों और सभ्यताओं को निर्मूल करके ही आधुनिक सभ्यता अपना सार्वभौमिक वर्चस्व कायम रख सकती है। उनकी दृष्टि में आधुनिक सभ्यता मानव-समाज में भोगवादिता, ऐहिकता, स्वार्थपरता, शोषण एवं हिंसा की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है और मनुष्य की चित्तवृत्ति को उर्ध्वगामी बनाने के स्थान पर अधोगामी बनाती है। इसके विपरीत सभी पारम्परिक सभ्यताओं के अन्तर्गत मनुष्य के चित्त में उर्ध्वगामिता के बीज को प्रस्फुटित एवं पल्लवित करना जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य माना जाता है। इसलिए सभी सनातन परम्पराएं अध्यात्म-विद्या या आत्म-विद्या को सर्वोच्च विद्या मानती हैं। कुल मिलाकर प्रोफेसर सरन को सनातन विद्या तथा परम्पराओं के एक ऐसे अनूठे व्याख्याकार तथा प्रहरी के रूप में माना जा सकता है जो मिथ्या दृष्टियों पर आश्रित आधुनिक विचारधाराओं तथा उनसे प्रसूत शास्त्रों से अभिभूत न होकर उनकी आंतरिक विसंगतियों की गहन व विशद आलोचना प्रस्तुत करते हुए परम्परागत सनातन विद्या और उस पर आधारित जीवन-दृष्टि को मनुष्य के लिए कल्याणकारी मानते हैं। इसी कारण प्रोफेसर सरन को आज उन समकालीन विद्वानों की श्रेणी में रखा जाता है जिनमें आनन्द कुमारस्वामी, रेने गुएनो, फ्रिथ्जॉफ शुआँ, मार्को पैलिस, टाइटस बर्कहार्ट, राइमण्डो पणिक्कर, मार्टिन लिंग्स, व्हिटाल पेरी, सिमोन वील और सैयद हुसैन नस्र जैसे विचारक सम्मिलित हैं।

प्रोफेसर सरन ने सनातन हिन्दू धर्म की आधारभूत स्थापनाओं पर विचार करने के साथ-साथ उन कारणों का भी पटाक्षेप और विश्लेषण किया है जो इन स्थापनाओं को समझने में बाधा उत्पन्न करते हैं। यहाँ प्रोफेसर सरन द्वारा

उद्घाटित परम्परागत हिन्दू जन-मत के सैद्धान्तिक आधारों की चर्चा तक ही सीमित रहना उपादेय होगा। प्रोफेसर सरन मानते हैं कि सनातन हिन्दू धर्म का मुख्य प्रस्थान बिन्दु न तो ईश्वर है और न ही सृष्टि, वरन् वह प्रश्न है जो एक अर्थ में सामान्य भी है और एक अर्थ में अति गंभीर भी। यह प्रश्न है - मैं कौन हूँ (Who am I)? इस प्रकार, यह परम्परा एक आत्म-जिज्ञासा-मूलक परम्परा है; स्वाभाविक ही, इसका सम्यक उद्देश्य आत्मज्ञान-मूलक ही होगा। भारतीय सनातन परम्परा का यह आधारभूत प्रश्न अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। वस्तुतः एक ऐसे आधार पर अवस्थित यह प्रश्न अपने आप में (अन्य परम्पराओं की तुलना में) विशिष्ट भी है जहाँ बौद्धिक और आस्तित्विक (noetic and the ontic) स्तर, ज्ञान और जीवन, सिद्धान्त और व्यवहार तथा विचार और कर्म- सभी एकात्मता के सूत्र में गुँथे हुए हैं। यही कारण है कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज एक-दूसरे से अविभाज्य हैं, अर्थात् एक की उपेक्षा दूसरे के विनाश का कारण बन सकती है। दूसरे शब्दों में, आत्मबोधपरक इस प्रश्न को केन्द्र में रखते हुए हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का आधार हिन्दू सृष्टिविज्ञान (cosmology) है।

भारतीय ऋषि-परम्परा का सामाजिक अधिष्ठान

भारतीय परम्परा की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करने के उपरान्त विवेच्य विषय की व्यापकता और गंभीरता को ध्यान में रखते हुए अब हम भारतीय परम्परागत सामाजिक-राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था के मर्म को समझने की चेष्टा करेंगे।

भारतीय धर्मशास्त्र-परम्परा में स्मृति-ग्रंथों का असाधारण महत्व है। पाराशर-स्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, शंख-स्मृति, वशिष्ठ-स्मृति आदि अनेक स्मृति-ग्रंथ हमें परम्परा से प्राप्त हैं। मनुस्मृति इनमें सर्वप्रधान है। मनुष्य को धर्म के स्वरूप से अवगत कराना, सदाचार के नियमों का प्रतिपादन करना और सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के संचालक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना इन स्मृतियों का प्रधान लक्ष्य है। महर्षि पाराशर के अनुसार श्रुति अर्थात् वेद विश्व के संचालन हेतु ईश्वर का विधान है तथा स्मृतियाँ इसी विधान के अर्थ एवं मर्म का प्रतिपादन करती हैं। स्मृतियों का क्षेत्र विशाल है, पर सामान्यतः इनमें तीन प्रधान विषयों का विवेचन किया गया है- आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित। आचार के अन्तर्गत चारों वर्णों के कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का विवेचन है। इसी के अन्तर्गत राजा के कर्त्तव्य, प्रजा के प्रति उसके व्यवहार, दण्ड-विधान आदि का विस्तृत वर्णन है। व्यवहार में न्याय, न्याय-निर्धारण की नीति, अपराध व दण्डनीति का प्रतिपादन किया गया है; साथ ही सम्पत्ति का विभाजन, स्त्रीधन, कर-ग्रहण की व्यवस्था आदि का भी वर्णन किया गया है। प्रायश्चित खंड में धार्मिक व सामाजिक कृत्यों को न करने तथा उनकी अवहेलना करने से जो पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित का विधान प्रतिपादित है।

इस दृष्टि से किसी जाति के लिए लौकिक-पारलौकिक विश्वास का आधार उस जाति अथवा 'जन' का दर्शनशास्त्र होता है। इसी दर्शनशास्त्र के अनुरूप उस जाति अथवा जन का आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र होता है जो विधि-निषेधात्मक, कर्तव्याकर्त्तव्य-सम्बन्धी आज्ञाप्रदायक, कर्मपरक होता है। किसी जाति का धर्मशास्त्र अपने दर्शनशास्त्र-प्रतिपादित लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय में सहायक जिन कर्मों या आचार-विचारों का विधान करता है, वे कर्म ही उस जाति के लिये कर्तव्य होते हैं और उन्हीं के द्वारा वह जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नति मानती है। स्पष्टतः, किसी जाति के धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आचार-विचार ही उस जाति की संस्कृति का स्वरूप होता है। अतएव, परम्परा में संस्कृति का आधार शास्त्र या धर्मग्रन्थ को ही माना गया है।

यहाँ 'जाति' शब्द का अर्थ-संकेत करना भी समीचीन होगा। जाति शब्द का अर्थ यहाँ समान मानसिक प्रवृत्ति वाले उस जन-समुदाय से है जिसे एक समान प्राकृतिक निमित्ति प्राप्त हो। केवल रीति, भाषा अथवा सत्ता के आधार पर निर्मित 'नेशन' आदि कृत्रिम शब्द 'जाति' अथवा 'जन' का उद्बोध कराने में अक्षम हैं। भारतीय 'दैशिक-शास्त्र' के अनुसार जन सहज, सावयव व आधिजीवक सृष्टि है। यूनानी परम्परा में प्लेटो के 'नेचर ऑफ थिंग्स' के सिद्धांत में इस अवधारणा की समीपतम सादृश्यता देखी जा सकती है। संस्कृत वाङ्मय में 'राष्ट्र' शब्द का मनोभाव भी इसके समीपस्थ है।

बद्रीशाहकृत *दैशिक-शास्त्र* में जाति अथवा 'जन' के प्रकरण को चिति और विराट् की धारणाओं की सहायता से स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। *दैशिक-शास्त्र* के अनुसार किसी भी जन के, चाहे वे भारतवंशी हों अथवा यूनानवंशी,

दो तत्त्व प्रधान समझे जाते हैं- चिति और विराट्। चिति किसी जन के चरित्र-वैशिष्ट्य की ओर इंगित करती है। जब तक चिति जागृत और निरामय रहती है तब तक जन का अभ्युदय होता रहता है, चिति का तिरोधान होने पर अथवा उसमें किसी प्रकार का विपर्यास आने से जन का अवपात होने लगता है और चिति का लोप हो जाने पर जन निश्चेतन देह के समान निष्प्राण, निष्क्रिय, निश्चेष्ट हो जाता है। ऐसे चिति-शून्य जन के लिये दूसरे की भोज्य-वस्तु बने रहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता।

दूसरी ओर विराट् सामाजिक जीवों को प्रदत्त एक विशेष प्रकार के सहानुभूतियुक्त तेज को कहते हैं। यह तेज ही व्यष्टि को समष्टि के हितार्थ आत्मत्याग करने को प्रेरित करता है, जिससे व्यष्टियों में परस्पर सहानुभूति रहती है और समष्टि की रक्षा के लिये व्यष्टिगत शक्ति न्यूनाधिक रूप में एकीभूत होकर केन्द्रस्थ रहा करती है। ध्यातव्य है कि यह विराट् व्यक्तियों के हृदय में चिति के प्रकाश से ही जागृत होता है, चिति के अन्तर्हित होने पर विराट् का भी ह्रास होता चला जाता है। यह विराट् जन रूपी शरीर का प्राण है। जिस प्रकार मनुष्य-देह में समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ एक प्राण के रूपान्तर होती हैं, उसी प्रकार जन की समस्त दैशिक चेष्टाएँ उसी विराट् का रूपान्तर होती हैं। जैसे शरीर में जब तक प्राण रहता है तब तक उसमें अन्नादि से बल-संचय होता रहता है किन्तु प्राण के चले जाने पर, शरीर के चले जाने पर शरीर के तत्त्व अपने काम न आकर दूसरे के काम में आने लगते हैं।

इसी प्रकार जब तक विराट् ठीक रहता है तब तक जन का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है ओर जब मिथ्या आचार-विचार से विराट् का स्वरूप धुंधलाने लगता है तो जन रूपी शरीर में स्वार्थ रूपी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है। उसके सब अंग निस्तेज, निर्बल और प्रतिरोधहीन हो जाते हैं, सबको अपनी-अपनी सूझने लगती है, परिणामतः वह सान्निपातिक दोषों से युक्त हो जाता है और दिन-प्रतिदिन उसका शतोमुखी पतन होने लगता है। इस प्रकार, देशरूपी वस्त्र को धारण किये हुए जन-रूपी शरीर की आत्मा चिति है और प्रकाश विराट्। चिति और विराट् का सम्यक् सामंजस्य ही किसी देश की समुन्नति का अन्तर्निहित कारण है। दूसरे शब्दों में, चिति किसी राष्ट्र का चरित्र-वैशिष्ट्य है, और विराट् जागृत चिति के द्वारा मनुष्य के हृदय में उत्पन्न वह प्रकाश है जो इस वैशिष्ट्य के प्रति मनुष्य को आत्मत्याग करने की प्रेरणा देता है। जागृत चिति के अभाव में विराट् का प्रकाश भी धुँधला पड़ जाता है और राष्ट्र का अवपात हो जाता है। इस प्रकार, देश अथवा राष्ट्र जातीयता की प्रतिष्ठा है।

व्यक्ति बनाम समाज की आधुनिक पश्चिमी धारणा के विपरीत भारतीय दृष्टि से राष्ट्र किसी भी भौतिक क्षेत्र-विशेष में लोगों के सहअस्तित्व से बढ़कर है। सनातन दृष्टि के अनुसार राष्ट्र का एक अर्थ 'ग्राम' किया गया है। ग्राम से तात्पर्य ऐसे स्थान से है जहाँ व्यक्ति को विश्रान्ति प्राप्त हो सके और विश्रान्ति व्यक्ति को वहीं प्राप्त हो सकती है जहाँ की प्रकृति के साथ उसका स्वाभाविक आत्मीय तादात्म्य स्थापित हो सके। इसी अभिप्राय से राष्ट्र उस भूमि को कहा गया है जिसके साथ व्यक्ति का मातृसम ममत्व स्थापित हो सके। व्यक्ति और संस्थाओं के अन्तर्सम्बन्धों के निरूपण के सम्बन्ध में यहाँ सार्वभौमिकता की उस सनातन दृष्टि *(Philosophia Perennis)* का अनुगमन किया गया है जिसके अनुसार परिवार, कुल, जाति और राष्ट्र जैसी संस्थाएँ मनुष्य की नैसर्गिक प्रगति में बाधक न होकर उसकी स्वाभाविक परिपूर्णता और उर्ध्वगामिता की महत्वपूर्ण पथप्रदर्शक होती हैं।

अपने दर्शन-शास्त्र में विधिवत प्रतिष्ठित इस भारतीय परम्परा की मौलिक विशेषता नानात्वमय समस्त दृश्य-प्रपञ्च के प्रत्यक्ष बहुत्ववाद से अलक्ष्य, अगोचर, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष से परे, निर्गुण-निराकार एक-तत्त्ववाद, अद्वैत-सिद्धांत की प्रतिष्ठा है। साकार और निराकार का पूर्ण समन्वय सनातन दर्शन का वैशिष्ट्य है, और इसी के प्रभाव से भारतीय परम्परा में व्यावहारिक उत्तमता और पारमार्थिक श्रेष्ठता- दोनों पूर्णता की सीमा पर प्रतिष्ठित हैं। स्वरूप-निष्ठा इसका स्वाभाविक प्रतिफल है। यह भारतीय संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है। इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियों के लिए ही अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के लिए विश्वपोषक तथा मंगलकारी प्रभाव उत्पन्न करने की अभिलाषा व्यक्त की गयी है। इस संस्कृति की इस विश्वपोषकता का रहस्य हृदयंगम हो जाने पर उसकी समस्त विशेषताओं को समझने के लिए एक आधार प्राप्त हो जाता है। इसलिए इसे समझ लेना आवश्यक है।

जिस प्रकार सरोवर के जल में पत्थर फेंकने से या किसी प्रकार की हलचल करने से उसमें उत्पन्न हुई तरंगें समस्त सरोवर में विस्तृत होकर सम्पूर्ण जलराशि को प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार समस्त जीवों और मनुष्यों की देहेन्द्रिय

आदि की समस्त हलचलों से वायुमण्डल में स्पन्दन उत्पन्न होते हैं- जो स्थूल-सूक्ष्म रूप से समस्त वायुमण्डल में फैलकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण नभोमण्डल, तेजोमण्डल, पृथ्वीमण्डल एवं सम्पूर्ण जलराशि पर अपना प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार प्राणी के प्रत्येक कर्म का प्रभाव कर्त्ता तक ही सीमित न रहकर समस्त ब्रह्माण्ड पर पड़ता है, किन्तु किस प्राणी के किस कर्म का प्रभाव सृष्टि के अनुकूल और किस कर्म का प्रभाव सृष्टि के प्रतिकूल पड़ता है- इसका पूर्णरूप से निर्णय करना मानवी-बुद्धि के परे है। मनुष्य अल्पज्ञ है, वह समस्त सृष्टि से परिचित नहीं है और अनन्त प्राणियों की अनन्त कर्मराशि से भी परिचित नहीं है; इसलिए किस प्राणी के किस कर्म का प्रभाव प्रकृति के किस स्तर में कैसा पड़ता है, यह निर्णय करना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है। इसका निर्णय वही कर सकता है, जो सर्वज्ञ हो। जिसने सृष्टि की रचना की है, जिसने समस्त प्राणियों को बनाया है और जिसने समस्त कर्मराशि एवं कर्मफलराशि का सृजन किया है, वही सर्वज्ञ परमात्मा कर्म के सूक्ष्म शुभाशुभ प्रभावों का पूर्णतया प्रकाश कर सकता है। इसलिए परमात्मा के अंगरूप निःश्वासभूत सनातन वेद जिन कर्मों को शुभ या उपादेय प्रतिपादन करते हैं, उनका प्रभाव पूर्णतया सृष्टि-पोषक, मंगलमय एवं सर्वकल्याणकारी होता है और जिन कर्मों को वेद अशुभ या हेय निर्देश करते हैं, उनका प्रभाव सृष्टि के लिए अमंगलकारी होता है।

इस संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात करने से पद-पद पर उसकी महती विशेषताएँ प्रत्यक्ष होती हैं। आश्रम-व्यवस्था के माध्यम से जहाँ मनुष्य को प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म में अभ्यस्त करते हुए उसके व्यावहारिक तथा पारमार्थिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने का विधान है वहीं, योगादि, यज्ञादि और अनुष्ठानादि विभिन्न उपासना शैलियों के माध्यम से वह अपने वैयक्तिक, सामाजिक एवं विश्वकल्याण के लिए दैवी बल प्राप्त करने में समर्थ होता है। शुद्धाशुद्ध विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेक, जन्मान्तरवाद और जीव का आवागमन चक्र, पूर्वज-स्मरण और वृद्ध-पूजन, स्त्री-गौरव की रक्षा और अतिथि-सत्कार के साथ-साथ संस्कार-युक्त जीवन और स्वधर्म-पालन इस परम्परा की अन्य विशेषताएँ हैं।

ध्यातव्य है कि उक्त समस्त विशेषताओं के सामाजिक आधार की प्रमुख विशेषता है चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था। सामाजिक सर्वोन्नति के लिए भारतीय परम्परा में प्राकृतिक गुणानुसारी कर्मों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चार वर्णों की व्यवस्था है। इसके मूल में इस संस्कृति की एक अन्य महती विशेषता जन्मान्तरवाद की मान्यता है। इस मान्यता के अनुसार इस जन्म में जीव प्रधान रूप से जो कार्य करता है, उसके संस्कार जीव के चित्त में अंकित हो जाते हैं। उन्हीं संस्कारों को लेकर वह अग्रिम जन्म में उन्हीं संस्कारों के अनुरूप शरीर धारण करता है और उन संस्कारों के अनुसार ही उसकी आसक्ति या कर्मों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसीलिए मीमांसा का सिद्धान्त है- 'कर्मबीजं संस्कारः' और 'तन्निमित्ता सृष्टिः।' अर्थात् संस्कार ही कर्म का बीज है और वही सृष्टि का कारण है। जीव सर्वथा ही संस्कारों का दास है। सनातन संस्कृति में जीव के संस्कारों का निर्णय उसके जन्म के आधार पर किया जाता है। किसी जाति या वर्ण में किसी जीव का जन्म ही इस बात का प्रमाण है कि उसके संस्कार उसी वर्ण या जाति के संस्कारों के अनुरूप हैं। इसी आधार पर मनुष्य के प्राक्तन संस्कारों का मलापनयन (शोधन) करके उसमें विशिष्ट संस्कारों का अतिशयाधान करते हुए उसे उसी जाति के कर्मों में नियोजित कर सनातन धर्म-प्रधान हिन्दू जाति मनुष्य को क्रमोन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाती है। यही जन्मना वर्णव्यवस्था का रहस्य है, जिसका स्वरूप तत्त्वतः पराभौतिक (Mataphysical) है। अब यदि किसी मनुष्य को उसके स्वाभाविक संस्कारों से भिन्न प्रकृति वाले कर्मों में लगाया जाए तो उसे समझने और करने में उसको विशेष मानसिक और शारीरिक परिश्रम करना पड़ेगा और इस परिश्रम में उसकी शक्ति का व्यर्थ ह्रास होगा। इस प्रकार शक्ति के ह्रास से समाज को बचाने के लिए और अपने प्राकृत संस्कारों के अनुरूप जगत्कार्य में लगे रहकर आध्यात्मिक मार्ग में भी सब लोगों को आगे बढ़ने का अवकाश रहे- यही उद्देश्य वर्णाश्रम-श्रृंखला के मूल में निहित है।

ऋण और पुरुषार्थ- वैश्विक और वैज्ञानिक निहितार्थ

भारतीय परम्परा अनागत सुख की कल्पना में वर्तमान को विस्मृत नहीं करती, वह अनागत को वर्तमान की सन्तति या फैलाव की दिशा के रूप में ही स्वीकार करती है। वर्तमान यहाँ अतीत के सनातन शाश्वत मूल्य को भविष्यत् की यात्रा के पाथेय के रूप में सौंपने वाला एकमात्र माध्यम है। इसीलिए जीवन में निरन्तरता और अखण्डता का अनुभव करते रहना यहाँ की स्वाभाविक वृत्ति है।

अद्वैत-दर्शन पर आधारित चराचर का सिद्धान्त, ब्रह्म के विवर्त पर आधारित एक से उद्भूत वैविध्य का सिद्धान्त, सृष्टि के साथ निरन्तरता और अखण्डता का सिद्धान्त तथा कर्मवाद का सिद्धान्त- ये ही वे तात्त्विक सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर मनुष्य का व्यावहारिक जीवन स्वरूप ग्रहण करता है। भारतीय मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की एक आधारभूत विशेषता आनृण्य-व्यवस्था है। वर्णाश्रम-व्यवस्था इस आनृण्य-व्यवस्था के कार्यान्वयन का माध्यम है। *शतपथ ब्राह्मण* (1.7. 2.1-6) में देव-ऋषि-पितृ-ऋण के साथ-साथ भूत या मनुष्य-ऋण की बात आयी है। एक भारतीय होने का जो वैशिष्ट्य है, जो विशेष अर्थ है, जो विशेष जिम्मेदारी है, उसे तो ऋण-सिद्धान्त की सहायता से समझा ही जा सकता है, सम्पूर्ण सृष्टि के सापेक्ष एक भारतीय का क्या वैश्विक दाय है, इसे भी समझा जा सकता है। देवता-तत्त्व भारतीय जीवन-विधान से अनवरत, क्षण-प्रतिक्षण जुड़ा तत्त्व है। प्रत्येक स्थान, प्रत्येक परिधि, प्रत्येक बाह्य और आभ्यन्तर क्षमता का एक देवता होता है, और जब-जब मनुष्य इन क्षेत्रों से कोई विभूति अर्जित करना चाहता है, उसे सम्बन्धित देव-तत्त्व के प्रति विनम्र और कृतज्ञ होना पड़ता है; यह विनम्र और कृतज्ञ होना ही देव-ऋण को चुकाना है। यज्ञ-अनुष्ठान मनुष्य और देवता-तत्त्व के बीच के सम्बन्ध का द्योतक तो है ही, यह हमारे अन्यान्य अनुष्ठानों, हमारे घरों और हमारे मन्दिरों के स्थापत्य तथा हमारे पूरे जीवन से किसी न किसी रूप, आकार या अर्थ से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, मनुष्य और देवता-तत्त्व के पारस्परिक व बाह्याभ्यन्तरिक सम्बन्धों पर आधारित यज्ञ-संस्था भारतीय समाज-संस्था की आधारशिला है।

इसी प्रकार, ऋषि-ऋण से उऋण होने का तात्पर्य यह है कि तपःपूत ऋषि-परम्परा द्वारा प्रदत्त अक्षय ज्ञान-परम्परा का धारक, वाहक, संरक्षक और सम्वर्द्धक बनने की सुपात्रता हमारे अन्दर विकसित हो। इस ऋण के रूप में हम पर अपनी सभी विद्याओं, कलाओं, शिल्पों और साधनाओं के साथ एक जीवन्त सम्बन्ध बनाये रखने की जिम्मेदारी सौंपी गयी है। इन दोनों ऋणों से उद्धार का व्यावहारिक आधार पितृ-ऋण पर टिका है। पितृ-ऋण से उऋण होने का अभिप्राय ऐसी सन्तान उत्पन्न करने से है जो हमारे पितरों के दाय की न केवल उत्तराधिकारी हो, वरन् इस दाय को समृद्धतर करने वाली भी हो। पितृ-ऋण का वास्तविक और व्यावहारिक अर्थ है, परिवार-भाव के प्रति दायित्व का बोध। भारतीय समाज-रचना में आधुनिक पश्चिम की तरह नितान्त निजी या एकान्तिक व्यक्ति अपने आप में इकाई नहीं है, उसका अस्तित्व-बोध परिवार से संयुक्त होकर ही तृप्त होता है। परिवार को इकाई मानने से व्यक्ति में छोटी निजता स्वयमेव विगलित हो जाती है और धीरे-धीरे संसार के मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत भी कभी सहचर, कभी माता-पिता, कभी सन्तति हो जाते हैं। 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का सम्यक अभिप्राय यही है। इस संदर्भ में विष्णुपुराणोक्त श्राद्ध का यह मन्त्र दृष्टव्य है:

देवासुरास्तथा यक्षा नागागन्धर्वराक्षसाः ।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डा स्तरवः खगाः ।।
जलेचरा भूनिलया वायुवाधाराश्च जन्तवः ।
तृप्तिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः ।।
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः ।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ।।
येऽबान्धवा बान्धवाश्च येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ।
ते तृप्तिमखिला यान्तु यश्चास्मत्तोयऽअभिवान्छति।।
ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः ।
तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम् ।।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः ।।
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम् ।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम् ।।

वैसे तो चौथा ऋण मनुष्य-ऋण या भूत-ऋण उक्त तीन ऋणों में समाहित है, किन्तु सभी भूतों, प्राणियों के हितार्थ अपनी सभी सीमाओं और आकांक्षाओं का परित्याग करने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति ही इस ऋण से उऋण हो

सकता है। भारतीय समाज में विरक्त या संन्यासी की असाधारण गरिमा का यही कारण है। इस व्यवस्था का भारतीय समाज-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसीलिए भारतीय समाज-रचना में वर्णाश्रम-व्यवस्था का स्तर-भेद होते हुए भी इन स्तरों के ऊपर जाकर जीवन को परखने का भाव निरन्तर बना रहा। इन चार ऋणों की पूर्ति भले ही मनुष्य के एक जन्म में न हो, पर इनकी पूर्ति के लिए जो प्रयास जीवन में प्रारम्भ होता है, उसी से मनुष्य की, उसके समाज की, उसके परिवेश और उसके विश्व की गति की दिशा तय हो जाती है। इन ऋणों की पूर्ति के मार्ग से विचलन का परिणाम ही क्रमशः दैविक-कोप, प्रज्ञापराध, पितृ-दोष और प्राकृतिक आपदाओं के रूप में मिलता है।

भारतीय जीवन-विधान की एक अन्य विशेषता पुरुषार्थ है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी चतुष्पुरुषार्थ एक-दूसरे से जुड़े हैं। निरपेक्ष रूप में न तो धर्म, न ही अर्थ, न ही काम जीवन-मूल्य हो सकते हैं। धर्म के अनुकूल सम्पत्ति का अर्जन करना (अर्थ) और धर्म के अनुकूल उसका उपभोग करना (काम), यह तभी सम्भव है जबकि मनुष्य की एक संतुलित जीवन-दृष्टि हो और वह तीनों को एक साथ संयुक्त रख सके। भारतीय जीवन-धारा में आत्यन्तिकता का सामान्यतः निषेध है, यह संतुलन की साधना है। प्रवृत्ति और निवृत्ति को इसी उद्देश्य के साथ ग्रहण किये जाने की संस्तुति की गयी है। चार ऋणों की व्यवस्था को अधिक सप्रयोजन बनाने के लिए चार पुरुषार्थों की व्यवस्था की गयी है। जिससे सांसारिक अभ्युदय हो, परमार्थ की सिद्धि हो और जो मनुष्य को न्यायपूर्ण जीवन बिताने के लिए प्रेरित करे- ऐसा धर्म ही एक ओर अर्थ और काम का प्रेरक है और दूसरी ओर मोक्ष का साधन है। धर्मयुक्त जीवन बिताते हुए ही मोक्ष का गन्तव्य दिखता रहता है और उसकी कामना ही मनुष्य को आसक्ति के बीच भी निस्संग बनने का अभ्यास कराती रहती है। एक अर्थ में सम्यक् भारतीय जीवन मृदु वैराग्य की साधना है। भारतीय जीवन-विधान में यज्ञ, योग और भक्ति के महत्व को भी इस संदर्भ में समझा जा सकता है। जहाँ एक ओर यज्ञ के अर्थ का विस्तार करते-करते, स्थूल-सूक्ष्म के अन्तर्सम्बन्ध की साधना करते-करते मनुष्य सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म के रूप में देखने की स्थिति में पहुँच जाता है, वहीं दूसरी धारा है योग की, आभ्यन्तर अनुशासन की, चित्तवृत्तियों का निरोध करते हुए आत्म-साक्षात्कार की। जहाँ बाह्य अनुष्ठानात्मक यज्ञ भीतर की भावनाओं को बहिर्मुख करता है, वहीं आभ्यन्तर साधनात्मक योग मनुष्य को बाह्य जगत से खींचकर अन्तर्मुख करता है और शरीर के भीतर ही अनेक लोकों, शक्तियों, रंगों, आकारों, नादों, स्पर्शों, गन्धों और रसों की अवधारणा करके प्राण के साधन से मनुष्य को एक ऐसी एकाग्रता की स्थिति में पहुँचाता है, जब वह शरीर के रहते हुए भी शरीर, मन, चित्त, अहंकार- इन सबसे अलग हो सकता है। इस योग की धारा ने ही आत्मतत्त्व की जिज्ञासा को जन्म दिया तथा यज्ञ और योग - दोनों धाराओं के मिलने से ही ब्रह्म और आत्मा में अद्वैत स्थापित हुआ। दूसरे शब्दों में, इन दोनों के योग से ही मोक्ष को परम पुरुषार्थ का पद प्राप्त हुआ जिसे ध्यान में न रखने से धर्म, अर्थ और काम मूल्यहीन होकर रह जाते हैं। मोक्ष दुःख या तृष्णा की निवृत्ति भर ही नहीं है, वह अखण्ड सुख की प्राप्ति है। भक्ति को आचार्यों ने पंचम पुरुषार्थ माना है। यह पुरुषार्थ भगवान में खोने की सार्थकता प्रमाणित करने वाला पुरुषार्थ है जो संतों का मार्ग बना और जिसने भारतीय सामाजिक जीवन में उदारता, करुणा और मानवीयता को आध्यात्मिक रंग दिया। इसके कारण भारतीय समाज में विनयशीलता के साथ-साथ गहरा आत्मविश्वास आया, अपने धर्म में निष्ठा के साथ-साथ सहिष्णुता आयी, स्वीकार करने का भाव आया और उसके साथ ही साथ किसी ज़बरदस्त प्रवाह के विरोध में भी टिके रहने की दृढ़ नकार-शक्ति भी आयी।

इस प्रकार, वैश्विकता का भारतीय परिप्रेक्ष्य अत्यन्त व्यापक है। इससे जुड़े सभी प्रत्यय सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त मानते हुए सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मनुष्य के स्वाभाविक तादात्म्य स्थापित करने से सम्बन्धित हैं। इन प्रत्ययों का स्वरूप तो देश-काल-परिस्थितिजन्य होने के कारण विशिष्ट है, किन्तु इनकी उपादेयता निःसन्देह ही वैश्विक है। इसी क्रम में अब हम भारतीय वैज्ञानिकता के स्वरूप पर भी विचार करेंगे।

भारत में धर्म, दर्शन, विज्ञान न केवल समानार्थक वरन् परस्पर आप्लावित धारणाएँ हैं। ज्ञान-मूलक सनातन संस्कृति में विद्याएँ तत्त्वज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का अंग मानी जाती हैं। ऐसी मान्यता प्राचीन समय एवं मध्यकाल तक अनेक देशों में मान्य थी। आजकल भारत जैसे कुछ देशों में इस परम्परा के चिह्न विद्यमान हैं। विद्या का स्वरूप देशकाल आदि के अनुसार एवं जाति-व्यक्ति आदि की मानसिक क्षमता के अनुसार भिन्न हो सकता है, किन्तु ब्रह्मविद्या के स्वरूप में इन भिन्नताओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ब्रह्मविद्या के विवरण के प्रकार में भिन्नता की सम्भावना है, किन्तु उसका ब्रह्मरूप विषय निर्विकार है, उसमें भिन्नता का प्रसंग नहीं आ सकता। सम्पूर्ण विद्याओं को एक ही तत्त्वविद्या की अंगभूता मानने

का अभिप्राय यह है कि सभी विद्याएँ प्रकृति की विशेषताओं के अनुसार एक ही विद्या के विशेष प्रयोजन हैं। इसलिए परम्परा में भौतिक विज्ञान प्रकृति और काल का विज्ञान है; इस भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत प्रकृति के अंग-विशेषों का अन्वेषण करने के उद्देश्य से कई खण्ड-विज्ञान हैं, जो भौतिक विज्ञान के अंगभूत विज्ञान हैं। इस प्रकार भौतिक विद्या को परम्परा में भूतों से परे वेदान्त का अंग माना गया है। वेदान्त का विषय परम-तत्त्व है। प्रकृति में परम-तत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिसके आभास से प्रकृति का वास्तविक रूप समझ में आ सकता है। यह आभास ही परम्परागत भौतिक विद्या का विषय है। यहाँ तक कि पश्चिमी मध्यकालीन सृष्टि-नियम-मीमांसा (Cosmology) की भी यही दृष्टि थी। यही बात रसायन विज्ञान पर भी लागू होती है। वास्तविक रस-विज्ञान यथार्थ में विश्व ब्रह्माण्ड की रचना का ही विज्ञान है और पिण्ड-ब्रह्माण्ड के समानधर्मी होने के नाते यह मनुश्य पर भी प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त इस विज्ञान के निर्माण में यह उद्देश्य सामने दिखायी देता है कि भौतिक क्षेत्र में होने वाला इसका उपयोग पीछे आध्यात्मिक क्षेत्र में भी किया जा सके। इसी से इसका लक्ष्यार्थ सूचक विशेष महत्त्व है और इस विज्ञान का इतना गौरव है। परम्परागत विज्ञानों में एक विशिष्ट और पूर्ण विज्ञान के तौर पर इसकी गणना होती है। यही बात प्राचीन ज्योतिष, गणित और मानस-विज्ञान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

सनातनी दृष्टि से किसी विद्या का मूल्य स्वरूपतः उतना नहीं है, जितना ब्रह्मविद्या का अंश होने के नाते है। इसीलिए प्राचीन प्रधान विज्ञानों का नाम 'उपवेद' रखा गया, जिससे स्पष्ट होता है कि वेदमूलक होने से ही उनका मूल्य है, न कि स्वतंत्र होने से। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद आदि को इसी कोटि में रखा जा सकता है। यही बात कलाओं के ऊपर भी लागू होती है, क्योंकि कला प्रतीकों का आधार है एवं ध्यान आदि का आश्रय प्रतीक होता है। कलाओं के नियमादि भी अन्य विद्याओं के नियमों की भाँति प्रकृति के आधारभूत धर्म के आभास हैं। इस प्रकार सनातनी विद्याओं-विज्ञानों के साथ सनातनी कलाएँ भी हैं। मध्यकालीन शिल्प-कला सनातनी कलाओं का एक अनुपम नमूना है, क्योंकि इस कला में शिल्प-सम्बन्धी प्रत्येक विद्या या विज्ञान का स्पष्ट संकेत है। दुर्भाग्य से आधुनिक पाश्चात्यों को इनका कोई ज्ञान नहीं है।

विज्ञान अपने क्षेत्र में अवश्य उपयोगी है, जब तक वह अपने स्थान में स्थित रहता है। यह सुगमता से समझ में आ सकता है कि जो कोई व्यक्ति ज्ञान की उच्च भूमिका पर पहुँच चुका है, उसके लिए निम्न श्रेणी के साधारण विज्ञानों का विशेष मूल्य नहीं रहता। यह भी कहा जा सकता है कि वास्तविक विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या के इच्छुक व्यक्ति के लिए विज्ञानों का मूल्य वहीं तक है, जहाँ तक उनका ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध है, अर्थात् जब तक वे अपने-अपने क्षेत्र में तत्त्व-दृष्टि रखते हैं एवं जिज्ञासुओं के लिए ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का मार्ग बन सकते हैं। इस प्रकार, परम्परागत विज्ञानों के दो परस्पर सहकारी कार्य हैं, प्रथम तो तत्त्व-विद्या के अंश एवं विशेष अंग होने से संसार के समस्त क्षेत्रों की आधारभूत एकता इनके द्वारा प्रकट होती है। इनका दूसरा कार्य यह है कि विशेश व्यक्तियों के लिए उनकी मानसिक शक्ति एवं अधिकार, समय, स्थान आदि के अनुसार ये विज्ञान ब्रह्मविद्या की ओर ले जाने वाले मार्ग बन सकते हैं। वे ऐसी सीढ़ियों का काम देते हैं, जिनके द्वारा बुद्धि क्रमशः जड़ संसार को छोड़कर ब्रह्मविद्या की ओर अग्रसर हो सकती है। सनातनी विद्या, धार्मिक विद्या अथवा परम्परागत विज्ञानों के मुख्य प्रमाण आत्मप्रत्यक्ष हैं, जो अन्य ज्ञान-साधनों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट एवं शंकारहित हैं तथा मन, बुद्धि आदि साधनों से सीमित नहीं हैं। सनातन सिद्धान्तानुकूल वास्तविक विज्ञान उन ऋषियों द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं, जिनको तत्त्व का पूर्ण ज्ञान हो चुका था।

जब विद्या के किसी रूप की स्थापना ऊपर से नीचे के क्रम में हुई हो, तब उसकी शिक्षा नीचे से ऊपर के क्रम से हो सकती है। इस प्रकार अनेक विद्याएँ एक तत्त्व के दर्शन में दृष्टान्त-रूप बन जाती हैं, जिनकी सहायता से विविध प्रकार की बुद्धियों को तत्त्वदर्शन करने में सुविधा हो। बहुविध प्रकृति के वश में रहते हुए जीव की बुद्धि बहुत्व में लीन रहती है, इसलिए उसको एकत्व की ओर ले जाने के लिए बहुविध रूपों की सहायता लेनी पड़ती है। सर्वोच्च ज्ञान के मार्ग की प्रारम्भिक भूमिकाएँ अनेक प्रकार की हैं; परन्तु जीव लक्ष्य के जितना समीप पहुँचता है, विभिन्न मार्ग उतने ही अधिक एक-दूसरे में लीन होते जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनमें भक्ति की सघनता होने के कारण ऐसे साधनों की आवश्यकता नहीं होती, उनको सीधे ही तत्त्वदर्शन का सौभाग्य मिल जाता है; परन्तु यह असाधारण बात है, साधारण जीवों को क्रमशः उन्नत अवस्था की ओर चलना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्यों ने भक्ति को परम कोटि का 'विज्ञान' माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तुओं की तात्त्विक एकता के कारण जड़ वस्तु भी तत्त्व की प्रतिमा एवं

तत्त्वदर्शन का आधार बन सकती है। यही बात प्रत्येक विद्या या विज्ञान के बारे में सत्य है। ज्योतिष विद्या और गणित विद्या का इसी प्रकार का उपयोग अनेक सम्प्रदायों ने परम्परा में किया है। इसी से प्राचीन ज्योतिष और गणित की गरिमा व महत्ता को समझा जा सकता है। कोई भी विद्या, जो अपने सनातनी स्रोत से कटी नहीं है, आत्मविद्या की प्रतिमा बन सकती है; यही सनातनी विद्याओं या विज्ञानों का मुख्य अर्थ एवं प्रयोजन है।

इस दृष्टि से जब हम भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि भारतीय विश्व-दृष्टि मनुष्य और प्रकृति, दोनों को अविलग देखती है - बाहर जो सूर्य का प्रकाश है, वही भीतर बुद्धि का प्रकाश है; बाहर जो अंधकार है, वही भीतर का भय है; बाहर जो तृण, वीरुध और वृक्ष में ऊपर उठने की प्रक्रिया है, वही भीतर की उमंग है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का मूल केन्द्र वैदिक यज्ञ-संस्था मनुष्य और देवता, आभ्यंतर और बाह्य, व्यक्त और अव्यक्त, चर और अचर - इन युग्मों को, सम्पृक्त मिथुनों को एक-दूसरे के लिए अपेक्षी बनाने वाली विधि है। इसलिए जहाँ आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन मनुष्य को केन्द्र में रखता है, मनुष्य की अप्रतिहत बुद्धि को केन्द्र में रखता है, प्रकृति पर मनुष्य की विजय को मनुष्य का पुरुषार्थ मानता है तथा पूरी सृष्टि को मनुष्य का उपभोग्य मानता है, वहीं भारतीय चिन्तन कोई एक केन्द्र देखता ही नहीं, उसका विश्व बहुकेन्द्रिक है; मनुष्य के लिए देवता केन्द्र है, देवता के लिए मनुष्य। यहाँ प्रकृति पर विजय नहीं, प्रकृति से सामंजस्य और समग्र अस्तित्व से परम सामंजस्य स्थापित करना ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है, समस्त भूतों के ऋण की परिशुद्धि ही परम पुरुषार्थ है; यहाँ न कोई निरपेक्ष रूप में भोग्य है, न निरपेक्ष रूप में भोक्ता। या तो मनुष्य सहभोक्ता है या सभी सहभोक्ता हों, इसके लिए अपने को अर्पित करने वाला भोज्य है। वह अन्न भी है, अन्नाद (अन्न खाने वाला) भी है।

भारतीय 'वैज्ञानिक' दृष्टि में सृष्टि जीवात्मा का सजीव, प्राणप्रवण लौकिक आश्रय है। इसे जड़ भौतिक पदार्थों का आपतिक संकलन या बाह्य शक्तियों का प्रासंगिक संयोग नहीं समझना चाहिए। सम्पूर्ण दृश्य जगत एक अदृष्ट पारमार्थिक सत्ता का प्रतिबिम्ब है। संस्कृत वाङ्मय में आकाश, पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि जैसे शब्दों में सामान्य वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक अत्यन्त सूक्ष्म, रहस्यात्मक, तत्त्वबोधक लाक्षणिकता सन्निहित है। आकाश शब्द पूर्णत्व का, वायु प्राण का, जल जीवन का, पृथ्वी क्षमा का और अग्नि तेजस् का रूप है। इसके अतिरिक्त इन पंचमहाभूतों में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध भी विद्यमान है, क्योंकि वे अपना पृथक या स्वतंत्र अस्तित्व न रखते हुए एक ही नित्य सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य अवयव जैसे नदी, पर्वत, समुद्र आदि निर्जीव पदार्थ नहीं, वरन् देवी-देवताओं के आश्रय माने गए हैं। पशु-पक्षी विभिन्न देवताओं के वाहन के रूप में प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए कवि-कुलगुरु कालिदास ने नगाधिराज हिमालय को देवतात्मा और पृथ्वी का मानदण्ड बताया है- 'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'। स्वर्गलोक से पृथ्वी पर अवतरित माता भागीरथी समस्त जीवों का उद्धार करने वाली देवी मानी गयी हैं। ये सभी स्थावर-जंगम चक्षु-विषय एक सूत्र में बँधे हुए हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे प्रकृति के विभिन्न पदार्थ और तत्त्व एक सूक्ष्म आन्तरिक शृंखला में अविकल रूप से निबद्ध हैं, उसी प्रकार प्रकृति और मनुष्य का भी अत्यन्त घनिष्ठ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों एक ही अनादि, अनन्त, अव्यक्त परम-तत्त्व के प्रतिभास हैं। मनुष्य जहाँ एक ओर अपने दैहिक अस्तित्व और जीवन-यापन के लिए प्रकृति पर आश्रित है, वहीं उसके भौतिक पर्यावरण को भी उसके स्वभाव, उसकी आकांक्षाओं तथा अभिलाषाओं, उसके क्रियाकलाप, उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके राजनीतिक संगठन इत्यादि से पृथक नहीं किया जा सकता। जब मानव-चेतना दृश्य-जगत की असीम विचित्रता तथा विपुलता का अतिक्रमण कर प्रातिभ ज्ञान या प्रज्ञा के द्वारा सभी वस्तुओं के मूल प्रतिमान का ध्यान करती है तो समस्त सृष्टि एक सर्वव्यापी, अखण्ड और अनन्त सत्य का प्रतिभास ज्ञात होती है: "एकै रूप अचार प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ।" सृष्टि की अविभाज्य समग्रता और उसके अन्तर्सम्बन्धों के इसी अर्थ-गाम्भीर्य को महाकवि भवभूति ने अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से *उत्तररामचरितम्* के एक श्लोक (6. 12) में व्यक्त किया है:

व्यतिषजाति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरूपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।।

इसका सारांश यह है कि प्रकृति के वास्तविक स्वरूप और उसके गूढ़ रहस्य को बाह्य कारणों से नहीं समझा जा सकता। हमें उसकी आन्तरिक एकता तथा अखण्डता को आत्मसात करना होगा। सभी भौतिक कारणों के गर्भ में सदैव

एक सूक्ष्म दैवी कारण विद्यमान है। इस अव्यय भाव - एक न खुलने वाले भाव - की तलाश करना ही भारतीय ज्ञान-विज्ञान का परम लक्ष्य है। इसीलिए भारतीय परम्परा में साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान और धर्म एक-दूसरे से आप्लावित या 'उलझे-उलझे' दिखायी देते हैं। वस्तुतः जहाँ ये आपस में परस्पराप्लावित या उलझे-उलझे नहीं हैं, वहाँ वे मनुष्य की साधना/गरिमा को व्यक्त करने में समर्थ ही नहीं हैं। भारतीय वैज्ञानिक उपलब्धि पर विचार करते समय भी यह बात स्पष्ट दिखती है कि इस विज्ञान का उद्देश्य प्रकृति को जीतना नहीं है, वरन् मनुष्य और प्रकृति को एक परस्पराकांक्षी युग्म के रूप में स्थापित करना है और सृष्टि चक्र को पथच्युत होने से रोकना है। प्राचीन भारतीय जीवन में यह नहीं था कि आखेट वर्जित हो, पशुवध न होता हो, किन्तु यह अवश्य था कि प्रजनन की ऋतुओं में आखेट वर्जित किया जाता था, जिससे सृष्टि का संतुलन बिगड़ने न पाए। पेड़ से लकड़ी तोड़ी जाती थी, लेकिन नई शाखा तोड़ना पाप समझा जाता था। कृषि-विकास के साथ-साथ वृक्षारोपण और पशु-संवर्द्धन को भी इसी सम्पूरक दृष्टि से महत्व दिया गया। बहुत सूक्ष्म पर्यवेक्षण के बाद प्राचीन भारतीयों ने आयुर्वेद और ज्योतिष का ज्ञान विकसित किया और इन दोनों प्रायोगिक विज्ञानों के क्षेत्र में उन्होंने धर्म-दृष्टि को खोने नहीं दिया। यही नहीं, उन्होंने आयुर्वेद को ज्योतिष से जोड़ा और बाह्य दृश्य या प्रत्यक्ष विद्याओं को अप्रत्यक्ष विद्या - अध्यात्म-विद्या से जोड़ा। नक्षत्र-विशेष या ऋतु-विशेष में देवता-विशेष की अनुकम्पास्वरूप औषधियों को तोड़ने-उखाड़ने को इसके दृष्टांत के रूप में देखा जा सकता है। पश्चिम के प्रसिद्ध भारतीय तत्त्ववेत्ता हाइनरिख त्सिमर ने 'हिन्दू चिकित्सा' नामक ग्रन्थ में ठीक ही लिखा है कि हिन्दू चिकित्सा-पद्धति मन और शरीर के भेद को स्वीकार नहीं करती और केवल शरीर के स्वास्थ्य-लाभ तक सीमित भी नहीं रहती है। वह वस्तुतः शरीर के माध्यम से जीवन के आनन्द की पूर्णता प्राप्त करने की विधि प्रस्तुत करती है। इसलिए आयुर्वेद में शरीर, रति, हेतु, व्याधि, कर्म, कार्य, काल, कर्ता (वैद्य), करण और विधिविनिश्चय - इन दसों का महत्व है और यह चिकित्सा-पद्धति इसीलिए आयुर्वेद कही जाती है कि वह जीवन-तत्त्व को परिपूर्णता दिलाने के लिए है, वह मनुष्य के बाहरी शरीर की ही चिकित्सा नहीं, मनुष्य के अन्तर्वर्ती प्राण की भी चिकित्सा है। यही कारण है कि आयुर्वेद की भित्ति सांख्य की त्रिगुणात्मक सृष्टि-योजना है। यह योजना ऊपर से देखने पर प्रथमतः अस्पष्ट और बाह्य वस्तु-निरीक्षण से अप्रमाणित जान पड़ती है, परन्तु इसका आधार शरीर की स्थूल रचना नहीं, शरीर की सूक्ष्म रचना है। इसलिए आयुर्वेद को अच्छी तरह समझने के लिए योग-साधना के अनुसार शरीर में शक्ति-प्रवाह के रूप में स्थित चक्र-श्रृंखला को समझना आवश्यक हो जाता है। इस श्रृंखला की कल्पना भी वस्तुतः विराट् विश्व के व्यष्टि शरीर में सूक्ष्म रूप से अवस्थित होने पर आधारित है।

ज्योतिष-विद्या के प्रसंग में भी यही बात लागू होती है कि वह केवल काल-गणना या दिग्गणना नहीं है, वह सृष्टि-विद्या भी है। वह खण्डकाल के परिणामों के माध्यम से अखण्डकाल की साधना करने वाली विद्या भी है। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दू ज्योतिष में निरयण गणना को सायण गणना की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। निरयण गणना सृष्टि के आरम्भ को बिन्दु मानकर चलती है और इसीलिए यह स्थापना करती है कि मनुष्य का जन्म निरवधि-काल और सावधि-काल के मिलन-बिन्दु पर होता है। एक ओर वह जीवन की अनन्त यात्रा के पड़ावों की श्रृंखला के रूप में आता है, और दूसरी ओर उसकी एक खण्डकालिक इयत्ता भी रहती है, जो उसी के प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मों के द्वारा नियन्त्रित रहती है। हिन्दू ज्योतिर्विद्या का प्रारम्भ सौर-मण्डल की कल्पना से नहीं, नक्षत्र-मण्डल की कल्पना से हुआ। इसी से इस विद्या में प्रारम्भ से ही पृथ्वी-केन्द्रिक (Earth-centric) विचारधारा परिपोषित न होकर ब्रह्माण्ड की एकता देखने वाली (Cosmocentric) विचारधारा परिपोषित हुयी। प्राचीन हिन्दू ज्योतिष की यह व्यापक दृष्टि आज के पश्चिमी गणितज्ञों के लिए भी स्पृहा की वस्तु है, क्योंकि पश्चिम का गणितज्ञ या खगोलवेत्ता आज भी मनुष्य-केन्द्रिक (Homocentric) विश्व-दृष्टि से इतना बँधा हुआ है कि वह ब्रह्माण्ड की लयबद्धता के बारे में शंकालु बना हुआ है। हाइज़ेनबर्ग और आइंस्टाइन के चिन्तन ने कुछ व्यापक दृष्टि देकर अवश्य ही पश्चिम को आधुनिक विज्ञान के अंधविश्वास से मुक्त करने का प्रयत्न किया है।

योग, आयुर्वेद, ज्योतिष, खगोल, भूगोल के साथ ही विज्ञान के जिन क्षेत्रों में प्राचीन हिन्दू उपलब्धियाँ दिखती हैं, उनमें कृषि, पशुपालन, भवन-निर्माण, नगर-नियोजन, धातु-विद्या, रसायन, नौकायन और वस्तु-उत्पादन प्रमुख हैं। चावल, गन्ना, कपास की फसलें तथा आम, नीबू, सुपारी, नारियल जैसे फल वाले वृक्षों के विकास में भारत का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत में कृषि, उद्यान और गो-पालन - तीनों अंतःसम्बद्ध हैं। हिन्दू शासन-तन्त्र ने इनको विकसित होने का स्वतंत्र अवसर भी दिया। भारत में ग्राम-स्तर पर स्वराज का अक्षुण्ण बने रहना इसका एक प्रमुख कारण है। भवन-निर्माण,

नगर-नियोजन और धातु-विद्या का विकास अवश्य अवरूद्ध हुआ, उसके भी दो मुख्य कारण थे। एक तो इन विद्याओं के पीछे जो देश-काल की आध्यात्मिक अवधारणा भारतीय मानस में थी, वह लुप्त हो गयी और उसके साथ-साथ रचना की प्रेरक शक्ति - धर्म का व्यापक बोध - लुप्त हो गयी। दूसरे यह कि भौतिक समृद्धि के अवसरों का वितरण विषम हो गया, शासन का केन्द्रीयकरण बढ़ गया और सत्ता की लोलुपता के कारण प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि में समग्र रूप से जो सौन्दर्य-बोध दिखता रहा, वह क्षीण होने लगा। अब इसके कारण भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए सामाजिक दायित्व में ह्रास आया और इसी से धीरे-धीरे शिल्पी, धातुकार, कारीगर बेरोजगार होते गये। आज इन प्रायोगिक विद्याओं पर एक तो साहित्य का अभाव है, साहित्य अल्पाधिक है भी तो उसे समझना कठिन है, क्योंकि प्रयोग की परम्परा बीच में बहुत दिनों तक विच्छिन्न हो गयी थी। स्थापत्य, नगर-निर्माण तथा धातुकर्म के क्षेत्र में प्रयोग की परम्परा टूटने और आज मनुष्य के यन्त्र-कौशल के बहुत 'विकसित' हो जाने के उपरान्त भी यह तो समझने की कोशिश करनी ही चाहिए कि जिस धर्म ने भौतिक-आध्यात्मिक विकास को समानान्तर चलाया, वह धर्म आज के विश्व में यकायक क्यों इतना अप्रासंगिक हो गया है और हम क्यों इस धर्म के बारे में क्षमायाची भाव रखते हैं? मनुष्य की तृष्णा को केन्द्र में रखकर विकास के नाम पर मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्न को निरन्तर उलझाते जा रहे विश्व को भारतीय विद्याओं की परम्परा सर्वभूत-हित की दृष्टि तो दे ही सकती है। इसी परम्परा में पुरुष और प्रकृति में अविरोध के आधार पर सृष्टि में सन्तुलन बनाये रखने की क्षमता है। भारतीय जीवन-विधान में साधारण जीवन की सभी क्रियाएँ इसी अर्थ में विज्ञान पर आधारित हैं, फलतः व्यष्टि और समष्टि के लिए उनका विनियोग सदैव कल्याणकारी रहता है।

विकास का अंधविश्वास : वैश्विकता और वैज्ञानिकता की 'आधुनिक' मान्यता

वैश्विकता और वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टि ऐसी ही रही। 'पुनर्जागरण-काल' के पूर्व भारत और यूरोप में भी कमोबेश यही दृष्टि मान्य थी। यूरोप में ईसाई धर्म-परम्परा के विरूद्ध जिस प्रतिक्रिया ने जन्म लिया उसे ही 'पुनर्जागरण' कहा जाता है। इसी पुनर्जागरण ने जीवन-दृष्टि के सम्बन्ध में गुणात्मक रूप से एक अतिभिन्न मान्यता को जन्म दिया, जिसे 'आधुनिकता' के नाम से जाना जाता है। 'आधुनिकता' से अभिप्राय प्रभात-बेला की तरह नित-नवीन होना नहीं है, जैसा हम अपनी भोली बुद्धि से मान लेते हैं। विद्या-विमर्श के क्षेत्र में आधुनिकता एक गुणवाचक विचार-वीथिका है, जिसके प्रमुख लक्षण हैं- स्वयंभू मनुष्य (Masterless/Unmediated Man) और स्वत्वसम्पन्न मनुष्य (Possessive Individual)-केन्द्रित 'मानववाद' (Humanism), व्यक्तिवाद (Individualism), इहलोकवाद (Secularism) तथा वैज्ञानिक बुद्धिवाद (Scientific Rationalism)। अपने इन्द्रियजनित अनुभव व तार्किक बुद्धिबल से सृष्टि के सभी रहस्यों का भेदन करने में मनुष्य को सक्षम मानने वाली आधुनिकता में मनुष्य-मनुष्य और मनुष्य-प्रकृति के सम्बन्ध में परम्परागत साकल्यवादी (Holistic) धारणा का पूर्णतः निषेध है। जीवन और जगत की खण्ड-खण्ड (Atomistic) दृष्टि पर टिकी आधुनिकता व्यक्ति, समाज, प्रकृति और ब्रह्माण्ड को एक कृत्रिम संयोजन (Aggregate) मानकर चलती है। स्वाभाविक ही जीवन और जगत के सम्बन्ध में साकल्यवादी और ईश्वर-केन्द्रित (Theo-centric) दृष्टि का लोप होने के परिणामस्वरूप आधुनिक-काल में सृष्टि के रहस्यों और मानवीय समाज के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की खण्डित, अपूर्ण और विरोधी विचारधाराओं का जन्म हुआ। इन विचारधाराओं को लेकर मानवीय जीवन में व्यापक स्तर पर संघर्षों का भी जन्म हुआ तथा वैयक्तिक, सामाजिक और वैश्विक जीवन निरन्तर उलझता चला गया। इसलिए यह भी उतना ही स्वाभाविक है कि आधुनिकता के प्रभाव में वैश्विकता और वैज्ञानिकता की परम्परागत मान्यताओं में भी आमूल-चूल परिवर्तन हुआ। धर्म और धर्मजनित नैतिकता का निषेध करने वाली आधुनिकता धर्म को विभेदकारी, पतनकारी, प्रगति-विरोधी और अंधविश्वास मानती है। स्वाभाविक ही ऐसे में एक इहलोकवादी तथा मनुष्य-केन्द्रित (Homocentric) विचार का जन्म होता है जो आज के मानववाद (Humanism) और मानवतावाद (Humanitarianism) का आधार है। किसी तात्त्विक एकता के कारण नहीं, वरन राजनीतिक तंत्र और अर्थ-तंत्र के दबाव में मानवीय एकता की स्थापना का प्रयत्न होने लगा। किन्हीं आत्मोन्नयनकारी और परमार्थकारी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, विश्व-सरकार के माध्यम से विश्व-शान्ति का स्वप्न देखा जाने लगा। वैश्विक संरचनाएँ इतनी जटिल हो गयीं कि पहले तो विभिन्न प्रकार के सैनिक गठबन्धनों के द्वारा शक्ति-केन्द्रित विश्व को संतुलित करने का प्रयास आरम्भ हुआ तथा ऐसा करने से बढ़ती गयी शस्त्रों की दौड़ से घबराकर बीच-बीच में निःशस्त्रीकरण की बातें भी की जाने लगीं। निष्कर्ष यह है कि वैश्विकता की अवधारणा अविश्वास, शोषण, प्रतिस्पर्द्धा, भय

और आतंक के बीच एक भावनात्मक छलावा मात्र बनकर रह गयी है। राष्ट्र-राज्यों की अन्तर्सम्बन्धी राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा में बदल गयी वैश्विकता केवल बेचने-खरीदने, लुभाने-ललचाने, डरने-डराने और बनाने-बिगाड़ने वाली अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का ताना-बाना बनकर रह गयी है।

वैश्विकता की ही भाँति, आधुनिकता ने वैज्ञानिकता के परम्परागत स्वरूप को भी विरूपित किया है। आधुनिकता के परिणामस्वरूप एक ईश्वर-केन्द्रित साकल्यवादी विश्व-दृष्टि के विरूद्ध जिस मनुष्य-केन्द्रित, अणुवादी (Atomistic) वैज्ञानिक बुद्धिवाद का आविर्भाव हुआ उसने ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के सोपानक्रम (Hierarchy) को अस्त-व्यस्त कर दिया, प्रकृति व ईश्वर में विरोध उत्पन्न कर दिया और एक मूलभूत अविभाज्यता को खण्डित करते हुए एक खण्डवादी विभाज्यता को जन्म दिया। इसके परिणामस्वरूप प्रकृति की पवित्रता की अवधारणा के त्याग के साथ-साथ मनुष्य ने अपने भौतिक-लौकिक सुख-वृद्धि के प्रयोजन को केन्द्र में रखते हुए अपनी सीमा का भयानक अतिक्रमण किया, प्रकृति-प्रदत्त तत्त्वों का भीषड़ शोषण किया और अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने वाले नित-नवीन अविष्कारों से एक-दूसरे को चमत्कृत किया। आधुनिक मनुष्य की ये गतिविधियाँ प्रकृति व समाज, दोनों में विपत्तिकारी असन्तुलन का कारण बनीं।

आधुनिक विज्ञानवादी पाश्चात्य सभ्यता आज अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच रही है और निरन्तर 'विकासोन्मुख' प्रतीत हो रही है। किन्तु इस प्रत्यक्ष विरोधाभास को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भौतिक जगत में अपनी अभूतपूर्व 'उपलब्धियों' और प्रकृति पर अपनी लगभग पूर्ण विजय के बावजूद (वस्तुतः उसके परिणामस्वरूप) मानव विनाश के कगार पर खड़ा है; और उन्हीं शक्तियों और सफलताओं के समक्ष अपने को असहाय और पराजित पा रहा है, जिन्हें उसने अपनी बुद्धि के वैभव से अर्जित किया है। भौतिक विकास की पराकाष्ठा और साथ ही विश्व के सन्निकट विनाश की तीव्र आशंका - दोनों इस युग के यथार्थ सत्य हैं; दोनों ही आधुनिक बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद और मनुष्य के अहंकार तथा उसकी महत्वाकांक्षा के अनिवार्य परिणाम हैं। आज जिसे हम पर्यावरण का संकट कह रहे हैं, वह कोई तकनीकी संकट नहीं है; यह संकट मूलतः आध्यात्मिक चेतना के ह्रास, आधुनिक विज्ञानवाद के अभ्युत्थान और प्रसार तथा मनुष्य और प्रकृति के विच्छेद, विनिपात और अपवित्रीकरण के वृत्तान्त का निष्कर्ष है। प्रख्यात तत्त्वशास्त्री, दार्शनिक, विचारक और पर्यावरणविद् प्रोफेसर सैयद हुसैन नस्र ठीक ही कहते हैं कि बाहर दिखायी देने वाला पर्यावरण का संकट वस्तुतः मनुष्य की आत्मा के संकटग्रस्त होने की प्रतिच्छवि है। आधुनिकता के दुश्चक्र में मनुष्य ऐसा फँसा है कि वह एक समस्या का समाधान करने निकलता है, तो दस नई समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं; विचारणीय बात यह है कि ये नई समस्याएँ उसके द्वारा किये गये निवारणीय उपायों की असफलता का नहीं, उनकी सफलता का परिणाम होती हैं। पारमार्थिक तत्त्वज्ञान से विच्छिन्न बुद्धि का यही हस्र होता है। ऐसी बुद्धि अंहकार-प्रधान, उच्छृंखल और आक्रामक हो जाती है तथा शक्ति और हिंसा का प्रतिरूप बन जाती है। वह प्राकृतिक पदार्थों (*Natura Naturata*) को उनके मूल जीवन-स्रोत (*Natura Naturans*) से पृथक करके उन्हें अविहित विनियोग, उपभोग और शोषण का विषय बना लेती है। प्रतिक्रियास्वरूप प्रकृति भी अपनी निगूढ़ शक्तियों के माध्यम से अपना विकराल, रौद्र रूप प्रकट करने के लिए विवश हो जाती है और पर्यावरण जैसा अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो जाता है। स्पष्ट है कि मनुष्य और प्रकृति का संघर्ष, 'विकास' के रूप में वैज्ञानिक आविष्कारों एवं प्रौद्योगिकी द्वारा प्रकृति पर मानव की विजय का प्रयास और उससे उत्पन्न पर्यावरण का संकट - ये सब मूल रूप से मनुष्य के अज्ञान और मिथ्याचार (Misconduct) के ही परिणाम हैं। बिडम्बना यह है कि महाविनाश के आसन्न संकट की घनीभूत, विकराल काली छाया में व्यतीत होता हमारा जीवन अन्यान्य आश्चर्यजनक वैज्ञानिक आविष्कारों से अभी भी असामान्य रूप से प्रभावित हो रहा है। परमाणु-जैविकी (Molecular Biology) एवं आनुवंशिक अभियान्त्रिकी (Genetic Engineering) के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति दिखायी दे रही है जैसे कि हम एक नये मानव एवं एक नये विश्व (Second Reality) के निर्माण में सफल हो गये हैं। किन्तु इस तथाकथित सफलता ने अनेक अपरिहार्य एवं गम्भीर नैतिक तथा सामाजिक समस्याओं को तो जन्म दिया ही है, मनुष्य, पशु और प्रकृति की उर्वरा शक्ति को तो क्षीण किया ही है, वैश्विक स्तर पर भी आणविक युद्ध जैसी विभीषिकाओं के भय और तद्जनित संत्रास को जन्म दिया है। स्वतंत्रता, समानता तथा विश्व-बन्धुत्व के 'आदर्श' पराधीनता, असमानता, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, सामाजिक विषमता, आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन का रूप धारण कर चुके हैं। वस्तुतः शोषण, दमन और जीवन का यंत्रीकरण भौतिकवादी सभ्यता के अपरिहार्य परिणाम हैं। भौतिकवादी सभ्यता के आधारभूत सिद्धान्त - बुद्धिवाद, यान्त्रिक भौतिकवाद, परिणामवाद और व्यक्तिवाद - ही इसके लिए जिम्मेदार हैं। बुद्धिवाद मानव और मानवोत्तर, दैहिक और दैविक को संयुक्त करने वाली

श्रृंखला अर्थात् प्रज्ञा की ही अवज्ञा करता है और मनुष्य को वैयक्तिक एवं ऐहिक जगत तक सीमित कर देता है। यान्त्रिक भौतिकवाद पदार्थ एवं उसके विस्तार तथा उसकी संरचना को ही अन्तिम सत्य समझता है। गणित की अध्ययन-पद्धति का व्यापक प्रयोग परिमाणात्मक उपागम को ज्ञान का एकमात्र साधन बना देता है; और व्यक्तिवाद सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को उसी प्रकार खण्डित कर देता है, जैसे अणुवाद (atomism) वस्तुओं को उनके अणुओं में विभक्त कर देता है। प्रसंविदावादी (contractualist) विचारकों (हॉब्स, लॉक इत्यादि) ने राज्य की उत्पत्ति व्यक्तियों के आपसी समझौते से बतायी, और संशयमूलक बुद्धिवाद के प्रवर्तक रेने देकार्त ने द्रव्य (matter) और गति (motion) के द्वारा पुनः सम्पूर्ण विश्व की रचना करने की मानव-सामर्थ्य में विश्वास व्यक्त किया - इस प्रकार, मानव-समाज और प्रकृति, दोनों अपना सहज सत्तामूलक (ontological) स्वरूप खोकर कृत्रिम पदार्थ बन गए, दोनों की दैवी गरिमा और पवित्रता नष्ट हो गयी; और मनुष्य को प्रकृति की क्रिया में मनमाना हस्तक्षेप करने का सैद्धान्तिक आधार प्राप्त हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण आधुनिक चिन्तन विघटन की प्रक्रिया है और इसका परिणाम है- विध्वंस। यह विध्वंस चाहे परमाणु अस्त्रों के प्रयोग से क्षण-मात्र में सम्भव हो, अथवा पारिस्थितिकीय प्रदूषण के द्वारा अपेक्षाकृत कुछ विलम्ब से हो, चाहे हरे-भरे वनों तथा पर्वतों को काट कर भूस्खलन और भूचाल के रूप में लाया जाए, या नदियों पर बड़े-बड़े बाँधों के निर्माण के द्वारा स्थानीय निवासियों को उजाड़कर उन्हें बेरोजगारी, अवसाद और भुखमरी का शिकार बनाकर किया जाए - वास्तव में यह विकास और विनाश एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों ही आधुनिक विज्ञान की अध्ययन-पद्धति के मूल में अन्तर्निहित हैं। पर्यावरण का वर्तमान संकट स्थूल जगत की विद्रूपता मात्र नहीं है, अपितु एक आध्यात्मिक संकट है; यह परम्परागत दर्शन एवं जीवन के प्रति अनास्था एवं ऐहिक जीवन में अतिशय आसक्ति का परिणाम है। आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी इसको वैचारिक आधार प्रदान करते हैं और वर्तमान उपभोगवादी संस्कृति एवं आर्थिक संसाधनों की प्रचुरता उसे संपोषित एवं संवर्द्धित करती है।

सत्य तो यह है कि वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक विकास और ब्रह्माण्ड के आश्रय-विन्यास की रक्षा - इन दोनों में मौलिक विरोध है। दोनों तत्त्वतः दो परस्पर विरोधी विचार-सरणियों से सम्बद्ध हैं। एक बाह्यमुखी, एकांगी, व्यष्टिपरक, परिमाणात्मक एवं रेखीय (linear) है; दूसरी अन्तर्मुखी, बहुआयामी, समष्टिमूलक, द्वन्द्वात्मक एवं गुणात्मक है। ब्रह्माण्ड जीव का लौकिक आश्रय है, जिसके साथ उसका सहज सामंजस्य है; तथा जिससे वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यकतानुसार यथोचित सामग्री प्राप्त करता है। यह सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों, प्राणियों, वनस्पतियों और पदार्थों, के अन्तर्सम्बन्धों की समग्र एकता है, अथवा विश्व के विभिन्न अवयवों का पूर्ण रागात्मक समन्वय (harmony) है। यह एक implicate order है, अर्थात् इसका एक-एक अवयव परस्पर तथा सम्पूर्ण-व्यवस्था से गुणात्मक रूप से घनिष्टतः सम्बद्ध है। यदि इसमें एक सीमा के बाहर हस्तक्षेप किया जाएगा, या उसके साथ मनमाने ढंग से छेड़-छाड़ की जाएगी, तो उसका सहज सन्तुलन, उसकी सावयव एकता नष्ट हो जाएगी। उस विनष्ट एकता तथा सन्तुलन को पुनर्स्थापित करने के लिए हमें अन्यान्य अगण्य परिवर्तन करने होंगे। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक हम सृष्टि की पूरी व्यवस्था को न बदल दें, अर्थात् बिना किसी पूर्व-प्रदत्त उपादान के सम्पूर्ण सृष्टि का नव-निर्माण (ex-nihilo creation of Second Reality) अपनी इच्छानुसार करने में सफल न हो जाएँ। स्पष्टतः यह सर्वथा असंभाव्य और अपरिकल्पनीय है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास चाहे जिस स्तर का और जितने विस्तार का हो, सृष्टि की मूल प्रकृति को नहीं बदल सकता।

विचारणीय प्रश्न यह भी है कि विकास का अभिप्राय क्या है? इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि वर्तमान युग में विकास एक अंधविश्वास का रूप धारण कर चुका है। अब तो सभी राजनीतिक दलों का भी यह सबसे प्रिय छलावा बन चुका है। बिना यह बताए कि किस वस्तु का किस अर्थ में विकास हो रहा है; अथवा विकास किस अर्थ में, किस सीमा तक और किस कीमत तक वांछित है; विकास को एक सर्वग्राह्य तथा स्वयंसिद्ध अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परम्परागत दर्शन में विकास का कोई सिद्धान्त नहीं है, उपलब्ध साहित्य में भी यह एक अपरिभाषित शब्द है।

असंतुलित और अमर्यादित विकास के अनिष्ट एवं अवांछित परिणामों के परिहार के लिए 'विकास-सिद्धान्त' के कुछ समर्थकों ने सम्भरणशील अथवा धारणीय विकास (sustainable development) की संकल्पना प्रस्तुत की है। किन्तु वस्तुतः यह विकास के सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या नहीं, वरन् उसकी आलोचना है। दूसरे शब्दों में, यह धारणा विकास की धारणा के सर्वथा प्रतिकूल है। सम्भरणशीलता में परिमिति (measure), संयम एवं स्थायित्व की भावना का विशेष

रूप से सन्निवेश है जो अनवरत्, असीम किन्तु अनिर्दिष्ट गतिशीलता की आधुनिक परिकल्पना के सर्वथा विपरीत है। सम्भरणशीलता की मांग है कि विकास को विराम दिया जाए, आन्तरिक और बाह्य जीवन में समन्वय स्थापित किया जाए और मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाए।

इस विसंगतिपूर्ण विकास की अवधारणा के अनिष्ट एवं अवांछित परिणामों के परिहार के सम्बन्ध में सम्भरणशील (सम्पोषणीय या धारणीय) विकास (Sustainable development) के अर्वाचीन मत की भी चर्चा कर लेना समीचीन होगा। सम्भरणशील विकास से तात्पर्य ऐसे विकास से है जो स्थायी हो सके और जिसमें प्राकृतिक संसाधनों का प्रचुर प्रयोग करने के उपरान्त भी भावी पीढ़ी के लिए पर्याप्त सामग्री अवशेष रह जाए। किन्तु, वस्तुतः, यह विकास के सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या के स्थान पर उसकी आलोचना है। दूसरे शब्दों में, सम्भरणशील विकास की अवधारणा विकास की आधुनिक अवधारणा के सर्वथा प्रतिकूल है। सम्भरणशीलता में परिमिति (measure), संयम एवं स्थायित्व की भावना का विशेष रूप से सन्निवेश है जो अनवरत्, असीम किन्तु अनिर्दिष्ट गतिशीलता की आधुनिक परिकल्पना के सर्वथा विपरीत है। सम्भरणशीलता की मांग है कि विकास को विराम दिया जाए, आन्तरिक और बाह्य जीवन में समन्वय स्थापित किया जाए और मध्यम-मार्ग का अनुसरण किया जाए। सत्य तो यह है कि वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक विकास और पर्यावरण या ब्रह्माण्ड के आश्रय-विन्यास (eco-system) की रक्षा - इन दोनों में मौलिक विरोध है। दोनों तत्त्वतः दो परस्पर विरोधी विचार-सारणियों से सम्बद्ध हैं। एक बाह्यमुखी, एकांगी, व्यष्टिपरक, परिमाणात्मक एवं रेखीय (linear) है; दूसरा अन्तर्मुखी, बहुआयामी, समष्टि-मूलक, द्वन्द्वात्मक एवं गुणात्मक है। पर्यावरण सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों, प्राणियों, वनस्पतियों और पदार्थों के अन्तर्सम्बन्धों की समग्र एकता है; अथवा विश्व के विभिन्न अवयवों का पूर्ण रागात्मक समन्वय (harmony) है; अर्थात् इसका एक-एक अवयव परस्पर तथा सम्पूर्ण व्यवस्था से घनिष्ठ गुणात्मक रूप से सम्बद्ध है। विकास के नाम पर इसमें एक सह्य सीमा के बाहर तक हस्तक्षेप किया जा रहा है जिससे उसका सहज सन्तुलन, उसकी सावयव एकता नष्ट हो रही है। वर्तमान युग में विकास एक अंधविश्वास का रूप धारण कर चुका है। बिना यह बताए कि किस वस्तु का किस अर्थ में विकास हो रहा है या विकास किस अर्थ में वांछित है, विकास को एक सर्वग्राह्य तथा स्वयंसिद्ध अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विकास एक प्रक्रिया है, वह स्वयं अपना ध्येय व साध्य (End, *Telos*) नहीं हो सकती। परन्तु इसे अपने आप में प्रक्रिया का उद्देश्य, उसका साध्य या उसकी परिणति समझ लिया जाता है। यदि विकास एक असीमित प्रक्रिया है तो उसका कोई अर्थ नहीं है; अथवा, यदि विकास का कोई अन्त है तो वह सीमित हो जाएगा और यदि वह अन्तहीन है तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है। एक सीमित क्षेत्र में तो विकास का कुछ अर्थ हो सकता है, किन्तु विकास एक सामान्य अवधारणा के रूप में अर्थ-विहीन शब्द है। और यदि विकास का अभिप्राय यह है कि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो अथवा शोषण-विहीन, न्यायोचित समाज की स्थापना हो तो यह सम्यक अर्थव्यवस्था व न्याय का सिद्धान्त हुआ, न कि विकास का। परम्परा में इसके लिए धर्म को मान्यता दी गई है जिसे ऋत्, Tao, *Dike*, Justice, Righteousness आदि भी कहा जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ है - सामंजस्य, स्वरानुरूपता (harmony), सन्तुलन, समानुपात (ratio), परिमिति, दैवी-अभिक्रम (Divine Order, Hierarchy: Hieros =Divine + Archy = Order) एवं पूर्णत्व (Perfection)। इसलिए, अच्छा होता यदि हम सामाजिक विज्ञानों एवं सामान्य चिन्तन में प्रचलित विकास की शब्दावली का ही सर्वथा परित्याग कर देते। वैसे भी यदि विकास का अभिप्राय यह है कि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, अथवा शोषण-विहीन, न्यायोचित समाज की स्थापना हो, तो यह सम्यक् अर्थ-व्यवस्था व न्याय का सिद्धान्त हुआ, न कि विकास का। विडम्बना यह है कि आजकल मानव को भी संसाधन मानकर उसका विकास करने की एक नई परिकल्पना ने जन्म ले लिया है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि मनुष्य के अभ्युदय के आध्यात्मिक-नैतिक क्षेत्रों की पूर्ण अवहेलना करते हुए यहाँ भी उसी भौतिक-आर्थिक विकास को महत्व दिया जा रहा है। विकास और विकास की मान्यता से जुड़ी क्षमता-उपागम (capability approach) तथा स्वतंत्रता आदि अवधारणाओं की व्यापक समीक्षा के उपरान्त भी यही सत्य प्रकट होता है कि आधुनिक विज्ञान और अनियंत्रित प्रौद्योगिकी पर निर्भर 'विकास' आधुनिक युग का सबसे भ्रामक मिथ्याप्रवाद है। अतः इस विकास के केन्द्र में विद्यमान ऐहिक विज्ञान की सीमा से बाहर निकलकर समस्त सृष्टि को ईश्वर के प्रतिभास (theophany) के रूप में हृदयंगम करना ही हमारा सम्यक् लक्ष्य होना चाहिए।

दुर्भाग्य से आज भारतवर्ष में भी वैज्ञानिकता को लेकर कई प्रकार के दृष्टिभ्रम प्रसारित किये जा रहे हैं, और कई प्रकार की अनपेक्षित परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। इन सबकी भी निर्मम समीक्षा का समय आ गया है। सर्वप्रमुख

चिन्ता का विषय तो यह है कि धीरे-धीरे हमारे मानस से यह भाव ओझल होता जा रहा है कि भारत की मुख्य प्रतिष्ठा एक ज्ञान-मूलक परम्परा होने से है। आज ज्ञान की अखण्ड सत्ता के प्रति भारतवर्ष अपना दायित्व विस्मृत करता जा रहा है। या तो ज्ञान से अभिप्राय सूचनाओं से लगाया जाने लगा है, अथवा पश्चिमी उच्छिष्ट आज के भारतवर्ष में ज्ञान का आतंक बना हुआ है। यही कारण है कि राष्ट्र की प्रतिष्ठा क्रिकेट, सिनेमा, एवरेस्ट आरोहण, पैसे, शोहरत अथवा पद से आँकी जा रही है। इन्हीं क्षेत्रों के लोग राष्ट्र के विभिन्न उपक्रमों के 'ब्राण्ड एम्बेसडर' बन रहे हैं, इनकी आवभगत के लिए प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित संस्थान लालायित रहते हैं। इनके प्रभाव से अनर्गल और तुच्छ वस्तुओं तथा कार्यों के प्रति राष्ट्र में एक आत्मघाती आकर्षण का भाव बढ़ता जा रहा है। ज्ञान की वास्तविक सत्ता के विस्मरण तथा उसके प्रति सम्मान के भाव के क्षीण होने का यह स्पष्ट संकेत है। वास्तव में यह राष्ट्र के बुनियादी चरित्र का स्खलन है, एक साधनामूलक परम्परा के प्रति दुर्भाग्यपूर्ण उपेक्षा का लक्षण है।

स्वतंत्रता का भारत के लिए, अपने वृहत्तर प्रभाव-क्षेत्र सहित, एक राजनीतिक मूल्य ही नहीं था, वरन् अपनी संस्कृति और सभ्यता के विश्वबोध को अपने जीवन में पुनर्प्रतिष्ठित करने का एक आदर्श भी था। दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय जीवन की मुख्यधारा (Mainstream) ही आधुनिक विकृतियों का शिकार हो गयी। परिणाम यह हुआ कि जो धारा नवोदित राष्ट्र की मुख्य धारा बनी, उसकी राष्ट्र की परम्परागत जीवन-दृष्टि के साथ कोई सामंजस्य नहीं था, और जो राष्ट्र की परम्परागत जीवन-दृष्टि थी, उसको राष्ट्र की निवर्तमान मुख्यधारा में किनारे कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, राष्ट्र की तथाकथित मुख्यधारा में राष्ट्र के वास्तविक जीवनादर्शों के लिए अनुकूलता ही नहीं बची, इसलिए एक ओर जहाँ राष्ट्र की परम्परागत संस्थाएँ राष्ट्र की 'मुख्यधारा' के लक्षणों का वाहक बनने में कठिनाई का अनुभव करने लगीं वहीं ये बची-खुची संस्थाएँ या समुदाय स्वयं हाशिए पर आ गए। विडम्बना यह रही कि 'समावेशी विकास' जैसे नारे भी उन संस्थाओं अथवा समुदायों को तो 'मुख्यधारा' में लाने की पैरवी करने लगे जो वस्तुतः आधुनिक पूँजीवादी अर्थ-रचना के ही वास्तविक शिकार थे, किन्तु उन परम्परागत संस्थाओं और समुदायों की स्थिति हाशिए पर रहने के उपरान्त भी उपेक्षित ही बनी रही, जिनके लिए इस 'मुख्यधारा' से अपने आदर्शों से च्युत हुए बिना संगति बिठाना दुष्कर या लगभग असंभव था।

इधर दूसरी ओर उस 'मुख्यधारा' की स्थिति भी निरापद नहीं कही जा सकती। जहाँ एक ओर इसे आधुनिक जीवन-दृष्टि के अनुरूप अनेक विरोधी युग्मों के पारस्परिक संघर्षों से दो-चार होना पड़ा, वहीं दूसरी ओर पूँजीवादी प्रवृत्ति के प्रभाव के कारण यह संघर्ष निरन्तर कटु से कटुतर होता गया। भारतीय बौद्धिकों की असफलता यह रही कि व्यक्ति बनाम समाज बनाम राज्य, समृद्धि बनाम पोषणीयता (sustainability), पुरुष बनाम स्त्री, अमीर बनाम गरीब, साधु बनाम सांसारिक, पारलौकिक बनाम लौकिक, जड़ बनाम चेतन, एक जाति बनाम दूसरी जाति तथा एक धर्म/सम्प्रदाय बनाम दूसरा धर्म/सम्प्रदाय जैसी अनेकानेक 'विरोधी' अवधारणाओं को उन्होंने आधुनिक पश्चिमी समाज-विज्ञानों के प्रभाव से स्वीकार तो कर लिया, किन्तु संघर्ष के स्थान पर सामंजस्य और समरसता को देखने की उस भारतीय दृष्टि का वे अवगाहन नहीं कर सके, जिसके बिना इन तथाकथित विरोधी भावों के अन्तस्तल को पहचाना ही नहीं जा सकता।

राष्ट्र के भावी जीवन में पीढ़ी दर पीढ़ी ऐसी परिस्थितियाँ बनती गयीं जिसमें राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों के प्रति ही नई पीढ़ी में कोई आकर्षण नहीं बचा। धीरे-धीरे इन राष्ट्रीय आदर्शों के लक्षणों से युक्त महापुरुषों और मनीषियों के प्रति भी यह आकर्षण धुँधलाता चला गया। अब तो यह स्थिति आत्मविस्मृति और आत्मसंभ्रम के स्तर तक पहुँच गयी है। अपने ही देश-समाज में हमारी हालत बेगानों की हो गई है। इस स्थिति का परिणाम धीरे-धीरे अपसंस्कृति की स्वीकृति और उसके विस्तार के रूप में दिखाई दे रहा है। एक ऐसी संस्कृति जिसकी निर्मिति में विद्यानुराग की प्रधानता रही हो, एक ऐसी अपसंस्कृति का शिकार होती जा रही है जिसमें विद्यानुराग, विद्यानुरागियों और विद्याकेन्द्रों के प्रति आत्मीय सम्मान का भाव क्षीण होता जा रहा है। विद्या-साधना अब कोई प्रथम कोटि का जीवनादर्श नहीं रहा। विद्या-क्षेत्र से जुड़े व्यक्तियों में भी वांछित आत्म-गौरव दुर्लभ हो गया है। इनके विद्या-केन्द्रों को कितने भी हज़ार करोड़ की धनराशि दे देने से उनमें भला क्या बुनियादी बदलाव आ सकता है? अब तो राष्ट्र की मुख्यधारा की सबसे प्रभावी निर्धारक शिक्षा-प्रणाली को विदेशी और आप्रवासी शिक्षकों से आच्छादित करने का संकल्प व्यक्त किया जा रहा है। यह हमारी विद्या-परम्परा के सन्निपातग्रस्त हो जाने का स्पष्ट लक्षण है।

इसी प्रकार, ऋण-परम्परा का क्षरण जिस प्रकार आज के भारतीय समाज में हो रहा है, उस पर भी विचार करने की आवश्यकता है। देश के युवाओं का स्वप्निल मार्ग अपने घर-समाज से कोटा और बैंगलोर होते हुए कैलीफोर्निया तक तय हो चुका है। इस 'प्रतिभा'-पलायन की मानसिकता के चलते और एक दूरस्थ विजातीय परिवेश में हम इनसे किस देवऋण की बात कर सकते हैं। अपनी विद्या-परम्परा के विजातीय तत्त्वों से दूषित होने का ही परिणाम है कि आज उपनिवेशवाद से मुक्ति (decolonization) जैसे विचारों की आवश्यकता आ पड़ी है। नकल के दम पर तथाकथित स्वदेशी विकास का दम भरते हुए हम किस ऋषि-ऋण को चुकाने की कल्पना कर सकते हैं। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों, यथा चिकित्सा-विज्ञान और अन्तरिक्ष-विज्ञान में जो कुछ भी हमने 'हासिल' किया है, वह ईमानदारी से कहा जाए तो शुद्ध रूप से नकल है। हमारे विद्यार्थी और वैज्ञानिक पहले विदेशी उपकरणों को खरीदकर उन पर हाथ साफ करते हैं और फिर उनकी नकल कर देश में उनके पुर्जों को जोड़ना (assembling) सीख लेते हैं, जिसे स्वदेशी तकनीक कहा जाने लगता है। कृषि और पशुपालन जैसे जीवन्त क्षेत्रों में बिना सोचे समझे किये गये 'वैज्ञानिक' परिवर्तनों का दुष्परिणाम कोई भी संवेदनशील और समझदार व्यक्ति आसानी से देख सकता है। जैसे बच्चे दूसरे बच्चों के खिलौनों को देखकर मचलने लगते हैं, वैसी ही बालवत् उद्विग्नता बुलेट ट्रेन जैसी सुविधाओं को लेकर हमारे बड़े-बड़े नीति-नियन्ताओं के मन में व्याप्त है। ये विसंगतियाँ केवल अर्थनीति तक सीमित नहीं हैं, क्योंकि जीवन खण्डमय नहीं होता। ये हमारे सामाजिक ताने-बाने को भी क्षत-विक्षत कर रही हैं। गौ और कृषि के प्रति हमारे मन में बढ़ता विकर्षण का भाव केवल हमारे बदलते आर्थिक ताने-बाने का ही परिणाम नहीं है, इस ताने-बाने ने हमारे अपने-पराये के बोध को दरका दिया है। अपनों को अपनाने के लिए जिस आत्मीयता की आवश्यकता होती है, वह सूखती जा रही है। इसलिए गौ और कृषि से हमारा स्वाभाविक रिश्ता सूखता जा रहा है। गाय और कृषि यदि हमारे जीवन के अभिन्न अंग नहीं रहे तो गोशालाओं और सहकारी कृषि के सहारे बहुत दिनों तक इनकी रक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार, पितृऋण की हमारी संकल्पना धर्म-सन्तति के भाव पर टिकी संकल्पना है। व्यावहारिक भाषा में, जब तक देश में प्रथम कोटि की मेधा प्रथम कोटि के कार्य के प्रति आकर्षित नहीं होगी, इस ऋण से भी उऋण नहीं हुआ जा सकता। सीधे शब्दों में, जब तक देश की प्रथम कोटि की मेधा विद्या-परम्परा की रक्षा अर्थात् शिक्षण-कार्य की ओर आकर्षित नहीं होती, हम अपने पूर्वजों के ऋण से उऋण हो ही नहीं सकते। यह पूर्वजों का गौरव ही व्यापक अर्थ में हमारा राष्ट्रबोध है; और आत्मगौरवहीन शिक्षक कभी राष्ट्रगौरव का सम्वर्द्धन नहीं कर सकते। जो कुछ लोग देश में अपने इस दायित्व का ठीक प्रकार से पालन करना भी चाहते हैं, वे या तो उपेक्षित हैं, अथवा एक प्रकार के राजनीतिक व्यभिचार के शिकार हैं। भारत एक परिवार-केन्द्रित सभ्यता है, इसी संस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व को कुसुमित होने का अवसर प्राप्त होता है, और वह एक व्यापकतर विराट् के प्रति अपने सम्बन्ध और दायित्व का बोध प्राप्त कर पाता है। दुर्भाग्य से आधुनिक भारत की दृष्टि व्यक्ति-केन्द्रित बन चुकी है, सरकार की योजनाओं से लेकर समाज की संरचना तक इस दृष्टि के व्यापक प्रभाव का अवलोकन किया जा सकता है। व्यक्ति-केन्द्रित दृष्टि सामूहिकता और सामाजिकता के लिए वांछित सहयोग, सहानुभूति, प्रेम और त्याग की भावना को क्षीण करते हुए परिवारों के अन्दर और परिवारों के मध्य घोर असमानता, अविश्वास, स्वार्थ, प्रतिस्पर्द्धा, बिखराव और तद्जनित विसंगति को जन्म दे रही है। स्त्रियों में जिस प्रकार विजातीय संस्कार तेजी से बढ़ रहे हैं और अनपेक्षित कार्यों के माध्यम से उन्हें जिस प्रकार की शोहरत मिल रही है, उससे समाज की सांस्कृतिक रीढ़ तेजी से कमजोर होती जा रही है। इसकी सबसे बड़ी कीमत बच्चे और वृद्धजन अदा कर रहे हैं। भारतीय समाज भी धीरे-धीरे अब लावारिस बच्चों और बेसहारा वृद्धों का समाज बनता जा रहा है। स्पष्ट है कि इन स्थितियों के रहते कोई समाज अपने ऋण-बोध से दूर ही होता चला जाएगा।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का विपथन

इधर विद्या और विज्ञान के क्षेत्र में एक और प्रयोग तेजी पकड़ रहा है। दर्शन, योग, आयुर्वेद, ज्योतिष और संगीत जैसी विशिष्ट, गुह्य और आत्मपरक विद्याओं का हम तेजी से 'वैश्वीकरण' करते जा रहे हैं। हमें यह तथ्य विस्मृत होता जा रहा है कि इन विद्याओं का एक विशिष्ट भारतीय संदर्भ है और इनकी साधना के लिए एक विशिष्ट परम्परा प्रदत्त गुरु-शिष्य-मर्यादा-युक्त और साधनापरक मार्ग वांछित है। हम भारतीयों के कुछ विशिष्ट प्रश्न हैं जो हमारी ही चित्तवृत्ति और संस्कार की उपज हैं और जिन्हें हम भारतीय ही सम्यक् रूप से ग्रहण कर सकते हैं - कर्म-सांकर्य से बचते हुए

योगस्थ और भगवद्प्रीतियुक्त होकर हम अपने आत्मबोध का लक्ष्य कैसे प्राप्त करें - हमारे दर्शन, हमारी भगवद्गीता हमारे इन विशेष प्रश्नों का विशिष्ट समाधान हमारे लिए प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार, योग हमारी चित्त-वृत्ति को संयमित करते हुए हमें अपने विराट् सांस्कृतिक-बोध के निकश-स्वरूप प्राप्त आत्म-बोध में लय करने की हमारी विशिष्ट युक्ति है। आयुर्वेद इस आत्मबोध के लिए हमें अपने वातावरण के अनुरूप शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार करने की विद्या है। ज्योतिष सृष्टि को देखने की तथा सृष्टि से प्रकाशित होने की हमारी अपनी विधा और संगीत हमारी अपनी आत्मा के सुरों को झंकृत करने तथा चित्त को भगवद्रोन्मुख करने की कला है। इन सभी विद्याओं का स्वरूप साधनापरक है, किन्तु देश में दुर्भाग्य से ऐसा वातावरण, ऐसी परिस्थिति और ऐसी मनोदशा का निर्माण हो रहा है जो नितान्त साधना-विरोधी और परिणामतः विद्या-विरोधी है। दूसरी ओर इन विद्याओं को वैश्विक मान्यता दिलाने के एक ऐसे निरर्थक उद्योग में हम संलग्न हैं जिसका एकमात्र परिणाम इन विद्याओं के विरूपित होने के रूप में सामने आ रहा है। अत्यन्त गुह्य और विशिष्ट प्रकृति की इन विद्याओं का जिस तेजी से सामान्यीकरण और सामूहिकीकरण हो रहा है वह साधना-प्रक्रिया और विद्या के स्वरूप, दोनों के लिए घातक है। जन-सामान्य में इन विद्याओं के अवतरण की एक समानान्तर लोक-परम्परा हमारे यहाँ विद्यमान रही है, यह परम्परा तेजी से नष्ट होती जा रही है; पंचायतों के माध्यम से गाँवों का शहरीकरण करने वाली सरकारी योजनाओं की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका है। हम भावनात्मक प्रतीकात्मकता और बौद्धिक प्रमाद के शिकार होते जा रहे हैं। संचार के साधनों ने हमें, और विशेष रूप से हमारी युवा पीढ़ी को कहीं का नहीं छोड़ा। एक निरर्थक और बातूनी सभ्यता के रूप में हम विकसित होते जा रहे हैं। सोशल मीडिया के माध्यम से समाज की बुद्धि-मति में व्याप्त सारा अधकचरापन सतह पर आ चुका है। बौद्धिक परिवेश में गम्भीरता का बुरी तरह से ह्रास हुआ है। हम एक झटके में सब कुछ खारिज़ करने या सब कुछ स्वीकार करने वाली, और इसी तरह एक ही झटके में सब कुछ प्राप्त करने या सब कुछ समाप्त करने वाली ज़मात बनते जा रहे हैं।

इस आपाधापी में हमारे शिक्षण संस्थान एक नई उहापोह में पड़े हुए हैं। वे तकनीकी और जीविकोपार्जन से जुड़े प्रतिस्पर्द्धी पाठ्यक्रमों के साथ कभी समाज-विज्ञानों, कभी मानविकी, तो कभी नैतिक शिक्षा जैसे विषयों का विसंगतिपूर्ण घालमेल कर रहे हैं। वे यह समझने को तैयार ही नहीं हैं कि आधुनिक समाज विज्ञानों और मानविकी विषयों की तासीर में ही उस आधुनिकता का विष विद्यमान है जो हमारे नैतिक मानदण्डों का सर्वथा तिरस्कार और निषेध करता है। इस प्रकार के नासमझी भरे जोड़-तोड़ से कुछ भी हासिल होने वाला नहीं। ये एक प्रकार से मनुष्य के व्यक्तित्व की एकता को खण्डित करने वाली दृष्टि का भी परिणाम है जो यह मानती है कि पहले भौतिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी हो जायें फिर नैतिक-आध्यात्मिक उन्नयन भी सुनिश्चित कर लिया जायेगा। ऐसा मानने वाले ये भूल जाते हैं कि नैतिक-आध्यात्मिक तत्त्व से रहित कोई सुसंगत भौतिक विकास सम्भव ही नहीं होता और यदि ऐसा यत्न किया भी जाये तो भौतिक विकास का भोग मनुष्य को आत्मिक रूप से इतना थका देने वाला और उसकी धारणा-शक्ति को इतना जीर्ण कर देने वाला होता है कि उसके पास नैतिक-आध्यात्मिक उन्नयन हेतु आत्मिक बल शेष ही नहीं बचता। पहले हम नष्ट करें, फिर दूसरे हमारे लिए बचायें, फिर हम उनका उपभोग करें और स्वस्थ सानन्द रहें - ऐसी परजीवी मानसिकता हमारी उन मान्यताओं में दृष्टिगत होती है जिन्हें हम जीवन स्तर (Standard of Life) और गुणात्मक जीवन (Quality Life) जैसे नामों से जानते हैं। भारतवर्ष में 'स्मार्ट सिटी' की धारणा भी इसी प्रकार की प्रेरणा से उपजी धारणा है। इस सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तत्त्वशास्त्री, दार्शनिक और कलाविद् आनन्द कुमारस्वामी का यह कथन द्रष्टव्य है कि:

The beginning of the very idea of standard of life is the beginning of the destruction of the very fabric of the society.

इसी प्रकार, दो खतरनाक विचारों को भी भारतीय बौद्धिक-विमर्श में जगह मिल रही है। ये हैं सेकुलर और आधुनिक होने के भारतीय संस्करण। भारतीय सेकुलरिज़्म, हिन्दू सेकुलरिज़्म और इनके विरोध में छद्म सेकुलरिज़्म (Pseudo-secularism) तथा भारतीय आधुनिकता जैसी भ्रामक धारणाओं के माध्यम से सेकुलरिज़्म और आधुनिकता के किसी 'भारतीय' स्वरूप-विशेष को बचाये और बनाये रखने की आत्मघाती कोशिश भी भारतीय बौद्धिक जगत में जारी है। इस बारे में हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि किसी भी अर्थ में भारतीय समाज और संस्कृति सेकुलर या आधुनिक नहीं है। सम्यक् भारतीय दृष्टि से ये अवधारणाएँ पूर्णतः त्याज्य अवधारणाएँ हैं। अतः, भारतीयता के मूल स्वरूप का कभी

विस्मरण न करते हुए हमें इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि युगधर्म की मान्यता तो भारतीय परम्परा में स्वीकार्य है, पर आधुनिकता मूलतः एक आसुरी 'संस्कृति' है।

स्पष्ट है कि स्वाभाविक भारतीय जीवन राजनीति-केन्द्रित न होकर समाजोन्मुख और धर्मानुशासित जीवन रहा है। यहाँ लोगों को राजनीति में अपनी हिस्सेदारी की नहीं, धर्म में अपने प्रतिभाग की चिन्ता रहती थी। वर्णाश्रम, ऋण-त्रय, पुरुषार्थचतुष्ट्य और कर्म के सिद्धान्त के तात्त्विक निवेश से युक्त उनका समाज उनके विश्वास का आधार रहा है। राजसत्ता को भी तद्नुरूप व्यवहार करते हुए इस विश्वास को हासिल करना होता था। इस चिर-सुगठित बुनियाद को दरकाकर जिस राजनीतिक सहभागिता को अतिशय उभार देने का प्रयास किया गया, उसने इस समाज की समझ और व्यवस्था, दोनों को ही छिन्न-भिन्न कर दिया है। इसी छिन्न-भिन्नता का निराकरण हम कभी राजनीति के माध्यम से, तो कभी आर्थिक माध्यम से करने का निष्फल प्रयास करते रहते हैं।

भारतीय परम्परा का स्वरूपोद्घाटन करते हुए पारम्परिक भारतीय समाज-दृष्टि की इतनी विशद विवेचना करना आवश्यक था। वस्तुतः यह समाज-दृष्टि और इस पर अवलंबित यह समाज-विधान ही भारतीय जन की रीढ़ है। सर्वतोभावेन इसी की रक्षा करने का संकल्प भारतीय परम्परा में विद्यमान है। जीवन के राजनीतिक और आर्थिक पक्षों का महत्व भी इसी व्यवस्था की रक्षा करने के सन्दर्भ में है। अतः, इसी निरन्तरता में पारम्परिक भारतीय राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि को भी समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

भारतीय ऋषि-परम्परा में राजविद्या

भारतीय परम्परा में धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजधर्म अथवा राजविद्या का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस विषय की महत्ता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि आदिकाल से ही राजशास्त्र पर विशिष्ट ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा है। मनु (*मनुस्मृति*), भीष्म (*शान्तिपर्व*), कौटिल्य (*अर्थशास्त्र*), शुक्र (*शुक्रनीति*), विदुर (*विदुरनीति*), कामन्दक (*नीतिसार*) तथा सामदेवसूरी (*नीतिवाक्यामृत*) की परम्परा को लक्ष्मीधर (*कृत्यकल्पतरु*, 12वीं सदी), देवणभट्ट (*स्मृतिचन्द्रिका*, 13वीं सदी), चण्डेश्वर (*निबन्धरत्नाकर*, 14वीं सदी), मित्र मिश्र (*वीरमित्रोदय*, 17वीं सदी) तथा अनन्तदेव (*राजधर्मकौस्तुभ*, 17वीं सदी) जैसे निबन्धकारों ने अक्षुण्ण बनाए रखा।

सृष्टि-विज्ञान, सप्तांग (स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड, मित्र), चतुष्विद्याएँ (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति), षड्गुण (संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय), मण्डल (अरि, मित्र, तटस्थ, उदासीन, विजिगीषु), कर-प्रणाली, गुप्तचर-व्यवस्था, दुर्ग-स्थापत्य तथा युद्ध-संचालन के साथ-साथ पुरुष-स्त्री-समाज-राजा-प्रजा- सभी के स्वरूप, दायित्व व अन्तर्सम्बन्ध का विशद विश्लेषण षड्शास्त्रों (सांख्य, वेदान्त, न्याय, योग, वैशेषिक, मीमांसा) तथा षड्विद्याओं (व्याकरण, छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा) के माध्यम से इन विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। धर्मशास्त्रकारों ने भी इन विषयों का सागोपांग विवेचन किया है। राजधर्म को वस्तुतः सभी धर्मों का सार माना गया है, इसे विश्व का सर्वोपरि अवलंब माना गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में राजधर्म की प्रशंसा करते हुए कहा गया है-

सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टा।

राजा को अपने युग का प्रवर्त्तक कहा गया है। देश में स्वर्णयुग या अन्धयुग का होना राजा एवं राजधर्म के सम्पादन पर निर्भर है। 'शुक्रनीति' के अनुसार,

युग प्रवर्त्तको राजा धर्माधर्म प्रशिक्षणात्।

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजशास्त्र के लिए अनेक नामों का प्रयोग हुआ है। 'नृपशास्त्र', 'दण्डनीति', 'नीतिशास्त्र' तथा 'अर्थशास्त्र' आदि अनेक नाम इसके लिए प्रचलन में रहे हैं। राजशास्त्र या अर्थशास्त्र के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय राज्य के अंग एवं राजा के अधिकार तथा उत्तरदायित्व रहे हैं। कौटिल्य ने *अर्थशास्त्र* के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि अर्थ सम्पूर्ण मनुष्यों का जीवन या वृत्ति है, अर्थात् मनुष्यों से भरी हुई पृथ्वी अर्थ है। वह शास्त्र जो पृथ्वी की प्राप्ति एवं संरक्षण का साधन है, अर्थशास्त्र है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के चार प्रमुख उद्देश्य निश्चित किए गए हैं - अलब्ध की प्राप्ति, लब्ध का परिरक्षण, रक्षित का संवर्धन और संवर्धित का सुपात्रों में विभाजन।

पारम्परिक भारतीय राजशास्त्र का आधार भी उसी सनातन भारतीय दृष्टि से ओतप्रोत है जिसमें भारत की भारतीयता का वैशिष्ट्य निःसंगता तथा प्रमाणमयता में सन्निहित माना गया है। स्पष्ट ही एक भारतीय की सकल संसार-साधना वस्तुतः संसार से निःसंग होने की साधना है। इस हेतु प्रमाण उसका मुख्य अधिष्ठान है। प्रमाण में परतन्त्रता का स्वतन्त्रतार्थ महत्व है, न कि पाशविक स्ववरण का। इसके लिए विद्वोन्मुखता तथा शब्द-प्रमाण की अधीनता स्वीकार की गयी है। शब्द प्रमाणमय है, अतः मुख्य अधीनता प्रमाण की है, शब्द-बन्धन की नहीं। अनधिगत, अबाधित एवं अर्थबोधित को ही यहाँ प्रमाण माना गया है। मीमांसाकारों का यह कथन उद्धरणीय है कि सामान्य जन के शब्द अर्थ के पीछे चलते हैं किन्तु ऋषि-शब्द का अर्थ स्वयं अनुसरण करता है। रागता-प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध ही शास्त्र की महिमा का कारण है तथा शास्त्र की प्रमाण-सिद्धि के लिए ही अवतार-विधान है।

भारतीय राजशास्त्र की परम्परा में आचार्य विश्वनाथशास्त्री दातार (1921-2009) कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अनुपम व्याख्याकार हुए हैं। अन्य मनीषियों की ही भाँति दातार जी भी भारतीय राजशास्त्र के प्रवाह को सनातन मानते हैं। ब्रह्माजी और विशालाक्ष शिव अर्थात् विश्वेश्वर की विशालाक्षता से अनुस्यूत राजशास्त्र की परम्परा में मनु-भारद्वाज-बृहस्पति-शुक्र-भीष्म-उद्धवादि के माध्यम से कौटिल्य और कामन्दक तक यही सनातन-प्रवाह दिखायी देता है। यही वैदिक-प्राचीन-भारतीय राजशास्त्र की आचार्य-परम्परा है। ध्यातव्य है कि यहाँ काल की विशेष महत्ता नहीं है, सनातन के साथ हमारी सहभागिता का मूल्य है। मनु, बृहस्पति तथा शुक्र में यही राजशास्त्र क्रमशः धर्म, अर्थ एवं दण्ड अथवा राज्य की प्रधानता के साथ प्रकट होता है। राजशास्त्र के स्वरूप के सम्यक् एवं सांगोपांग विवेचन के लिए न्याय-विद्या की अपरिहार्यता बताई गयी है। प्रत्यक्ष-परोक्ष-अनुमान-मूलक प्रमाणत्रय इस न्याय-विद्या का उप-साधन है। सभी परम्परागत विद्याएँ तपाधारित हैं, मन का नैर्माल्य इनकी साधना की पूर्व शर्त है। इस निर्मलता की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि निर्विकार मन ही ब्रह्माण्डस्वरूप है, उसी का चलायमान होना प्रमाणमय हो सकता है। अतः, दूसरे शब्दों में, सामान्य मन प्रमाण नहीं हो सकता।

शास्त्री जी प्रत्यक्ष को, शब्द-प्रमाण को सम्मुख रखकर कार्य-कारण भाव से साधनीयता का विचार मानते हैं। चक्षु-अवच्छिन्न चैतन्य तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य का ऐक्य होने के कारण ही परमात्मा को वेदान्त ने प्रत्यक्ष विषय कहा है। अनुमान के द्वारा अवच्छेदक का विचार किया जाता है। साम-दान-दण्ड और भेद का षड्गुण-नीति द्वारा प्रयोग ही इसका उपाय है। वे मानते हैं कि प्रमाणत्रय में तीन वेद (ऋक्, साम, यजु) सम्मिलित हैं जिनके रक्षार्थ अथर्ववेद है। वे धर्म को व्यापक तथा नीति को व्यापी मानते हैं तथा कहते हैं कि नीति के रक्षार्थ अन्य (बाधक) धर्मों का त्याग भी अनुमोदनीय है। भारतीय राजशास्त्र की परम्परा में वे प्रत्यक्ष के माध्यम से चार्वाक तथा अनुमान एवं तर्क के माध्यम से बौद्ध-परम्परा का भी समावेश मानते हैं। उनके अनुसार, भारतीय परम्परा शब्दोपरान्त प्रत्यक्ष की खोज की साधना है जबकि आधुनिक-पाश्चात्य उपक्रम प्रत्यक्षाधारित शब्द की रचना का उद्यम-मात्र है।

आचार और विचार की एकता के मूर्तिमान स्वरूप दातार जी त्रयी, वार्ता, दण्डनीति एवं आन्वीक्षिकी का विशद किन्तु सुस्पष्ट विवेचन करते हैं। उनके अनुसार त्रयी कर्म, नीति, अर्थ और धर्म सम्बन्धी ज्योतिषादिशास्त्र में निष्णातोपरान्त शास्त्र-अर्थ-अनुष्ठानपूर्वक इन्द्रियजयी होने की विद्या है। यह आत्मसम्पत्तिवान अथवा आत्मवान बनाने की साधना है। त्रयी आत्मवान का परिचय है, धर्ममय है तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारणार्थ समस्त शास्त्रों का सांगोपांग निर्णय है। आत्मवान होना अन्योन्याश्रियता के चक्र का भेदन है। दूसरी विद्या अर्थात् वार्ता का स्वरूप अर्थमूलक है, तथा यह संघ-शास्त्रानुष्ठान की एकता का बोधक है; जबकि दण्डनीति राज्यमूलक है तथा धर्म-अर्थ-काम के प्रवर्त्तन में योग-क्षेम के रक्षणार्थ विहित है। चतुर्थ विद्या आन्वीक्षिकी विद्या-मूलक है। यह पारस्परिकता एवं द्वन्द्व का समाधान प्रस्तुत करती है। दूसरे शब्दों में, यह विचार की पद्धति का निर्धारण करती है। वस्तुतः, विद्या के सदुपयोग का विचार ही आन्वीक्षिकी है। बुद्धि का स्थैर्य भी आन्वीक्षिकी का कार्य है। इसी को सतोगुण की समृद्धि भी कहा गया है। राजधर्म, वास्तव में, सतोगुण के आलोक में ही संचालित करने योग्य है। साहित्य में 'धृति' शब्द का प्रयोग भी इसी सतोगुण के सन्दर्भ में है। अतः, भारतीय राजशास्त्र की मूल आधार-शक्ति सतोगुणात्मक है तथा बुद्धि का नैर्माल्य एवं आचरण की पवित्रता भी इसी का एक पक्ष है।

दातार जी के अनुसार भारतीय परम्परा में सभी धर्मों को राजधर्म में निमग्न मानकर राजधर्म की केन्द्रीय महत्ता का ही प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्भागवत् में भक्ति को समक्ष रखकर और वेदान्त में ज्ञान को केन्द्र में रखकर विद्यार्जन का विधान प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों की वैकल्पता राजधर्म में निहित मानी गयी है। इसीलिए क्षात्रधर्म के अनुपालन

में अन्य धर्मों की उपेक्षा भी प्रशस्त मानी गयी है। क्षात्रधर्म अथवा राजधर्म के सम्बन्ध में शास्त्री जी स्मृतियों की ओर भी प्रमुखता से इंगित करते हैं। उनके अनुसार, स्मृतियाँ अपने आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय तथा प्रायश्चित्ताध्याय आदि के माध्यम से राजधर्म का ही स्वरूप-निर्धारण करती हैं। गृहस्थ की वृत्ति अथवा कार्य-क्रम का निर्धारण करके स्मृतियाँ गृहस्थ के सप्तांगों की सम्पूर्णता सुनिश्चित करती हैं। वीरमित्रोदय के शब्दों में यही गृहस्थ की वास्तविक एवं सांगोपांग सम्पन्नता है। यही राजधर्म की सामाजिक व्युत्पत्ति का भी सिद्धान्त है। धर्म-लक्षणों से सम्पन्नता राजधर्म की अनिवार्य विशेषता है। शास्त्री जी राजा सहित राज्य के विभिन्न पदाधिकारियों के निर्धारण, चयन, लक्षण, दायित्व आदि का प्रकरण भी प्रमुखता एवं विशदता से प्रस्तुत करते हैं। उनका सर्वाधिक बल वृत्ति-नियमन पर है जो वर्णाश्रमी सभ्य समाज का आधार है। उनके अनुसार वृत्ति का उल्लंघन अथवा वृत्ति का अपहरण (वृत्ति-सांकर्य) दोनों निषेधित हैं। इसका अनिवार्य परिणाम विनाश ही होता है। वे कहते हैं कि राजा की पवित्रता पर राज्य का यथेष्ट निर्भर है तथा सेना को व्यसनों से बचाना भी कोषांग का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

राजधर्म के स्वरूप-निर्वचन के अन्तर्गत दातार जी गुरु-शिष्य सम्बन्धों तथा व्यक्ति और समाज की अन्तरंगता पर भी प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार परम्परा में विद्यार्थी में गुरु का 'विद्यावंश' कहा गया है। यह गुरु के उत्तरदायित्व की पराकाष्ठा है। इसीप्रकार, व्यक्ति और समाज के मध्य दोनों प्रकार के सम्बन्धों को वे संभव मानते हैं, अर्थात् व्यक्ति समाज से भिन्न भी हो सकता है और अभिन्न भी। संतति की गुणवत्ता एक ओर जहाँ माता-पिता के सांस्कारिक अनुशासन का प्रतिबिम्ब है, वहीं दूसरी ओर नीति के अनुसार व्यक्ति का रूप अलग-अलग भी हो सकता है। शास्त्रकारों के निरूपण में व्यक्ति की अपेक्षा समाज केन्द्र में रहा है। समाज का धर्म व्यक्ति को स्वतः जोड़ता है या समष्टि का धर्म व्यष्टि को जोड़ता है। वे कहते हैं कि राम की साधना लोक-समष्टि के समाजत्व की साधना है, जो अत्याज्य है। राज्य के साथ राजा के स्वामित्व के सम्बन्ध को वे जीवन-मरण का प्रश्न मानते हैं। राज्य व राजा में वे एकरूपता देखते हैं। *रामचरितमानस* की राजधर्म की दृष्टि से की गई उनकी विशद व्याख्या में यह भाव प्रमुखता से प्रकट होता है। उनका मानना है कि समाज व नीति के प्रश्न पर दृष्टि समष्टिगत होनी चाहिए तथा भोजन व विवाह के प्रश्न पर दृष्टि व्यष्टिगत होनी चाहिए। अर्थात्, एक ओर जहाँ समाज की प्रमुखता है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की प्रमुखता है। समष्टि और व्यष्टि का सम्यक् सन्तुलन ही राजधर्म का मर्म है। कुलधर्म की अपरिहार्यता का विधान भी राजधर्मार्थ ही किया गया है। यहाँ तक कि कार्य-कारण-सिद्धान्त का विवेचन भी सर्वत्र समष्टि के ही सन्दर्भ में है। व्यक्ति का निर्माण भी इसी कार्य-कारण सिद्धान्ताधारित समष्टि के अन्तर्गत ही स्वतः सम्भव है। कार्य-कारण के मध्य का सम्बन्ध ही विश्वचर्या के दौरान दिखायी देता है। इसी में पाप-पुण्य की अवधारणा भी व्याप्त है। पाप-पुण्य के प्रकरण को विस्तार देते हुए दातार जी कहते हैं कि जो कर्त्ता का ही पान करे वह पाप है तथा जो कर्त्ता को पुष्ट करे वह पुण्य है। अतः कर्त्ता को देखने से ही पुण्यात्मा या पापी स्पष्ट हो जाता है। इस सन्दर्भ में धर्म-अधर्म व्यापक क्षेत्र तथा पाप-पुण्य व्याप्त क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में, लोक-शास्त्र-निन्दित ही पाप है तथा लोक-शास्त्र-प्रशस्त ही पुण्य है। धर्माधर्म-प्रमाण - श्रुति-स्मृति-अनुमान-आस्थादि - समस्त उपशास्त्रों की एक-वाक्यता की स्थिति ही शास्त्र है।

इस दृष्टि से शास्त्रानुयायी वर्णाश्रमी ही ईश्वरीय नागरिक है, शेष के लिए राजा का शील ही कारण है। व्यक्ति के विभिन्न शास्त्र यथाप्रयोजनार्थ हैं, जबकि समष्टि का शास्त्र राजशास्त्र है। राजनीति में समष्टि का उपयोग सामाजिक विपर्ययों का प्रतिकार करने में है। राजनीति के प्रयोग से व्यक्ति अथवा समाज के वाह्याभ्यन्तरिक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विषयों में साम्य स्थापित हो जाता है, व्यष्टिगत और समष्टिगत हितों का संयोग हो जाता है; जिससे समाज के हितार्थ ब्राह्मण दारिद्र्य को, क्षत्रिय प्राण-संशय को, वैश्य चिन्ता को और शूद्र सेवा को आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं। मान के साथ दारिद्र्य, ऐश्वर्य के साथ प्राण-संशय, श्री के साथ भार, नैश्चिन्त्य के साथ विनय का संयोग होने से ब्राह्मण अभिमानी नहीं होने पाते हैं, न क्षत्रिय उच्छृंखल होते हैं, न वैश्य दुर्व्यसनी होते हैं और न शूद्र असन्तोषी होने पाते हैं; फलतः समाज में सर्वत्र साम्य रहता है।

भारतीय परम्परा में राजधर्म के पालनार्थ सप्तांग-सिद्धान्त का विवेचन सभी राजशास्त्रकारों ने किया है। स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्री), राष्ट्र या जनपद, पुर (दुर्ग या राजधानी), कोष, दण्ड (सेना) एवं मित्र राज्य के सात अंग माने गए हैं।

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोषदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ध्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते।

अंगों को प्रकृति भी कहा गया है। राजशास्त्रकारों ने राजा को सातों अंगों में सर्वाधिक महत्व दिया है क्योंकि अन्य प्रकृतियों पर संकट आने पर वही उनके निवारण का प्रबन्ध करता है। परन्तु, भारतीय राजदर्शन में राजा के भी ऊपर धर्म का नियन्त्रण माना गया है। राजा से शास्त्रानुशासन में रहने की अपेक्षा की गई है। धर्म-पालन राजा का नित्य एवं निरन्तर कर्त्तव्य है। जिस प्रकार अंकुशहीन हाथी और बिना लगाम का घोड़ा घातक हो सकता है उसी प्रकार धर्म की मर्यादा से विरत राजा भी प्रजाघातक होता है। *वृहदारण्यक उपनिषद* में धर्म को राजा का रक्षक (क्षत्रस्य क्षत्रम्) कहा गया है। राजा प्रजा का नायक है, प्रजा उसका अनुगमन तभी करती है जब उसका आचरण धर्मानुकूल होता है। धर्मशील राजा के राज्य में प्रजा सुखी रहती है और अधर्मी राजा के राज्य में रोग, शोक एवं कष्ट का आधिक्य रहता है। मनु का विचार है कि जो राजा धर्म-विरुद्ध आचरण करता है वह सकुटुम्ब नष्ट हो जाता है। धर्मशील राजा ही दण्ड को धारण करने का अधिकारी है, और यदि वह धर्मयुक्त नहीं है तो दण्ड उसे भी नष्ट कर देगा। राजा को दण्ड-शक्ति का प्रयोग स्वेच्छाचारी होकर नहीं, वरन् धर्म की मर्यादा में और धर्म की रक्षा के निमित्त प्रयोग करना चाहिए। अतएव, राजा को काम एवं क्रोध को संयमित करते हुए अपने धर्म का पालन करना चाहिए।

पाश्चात्य समीक्षकों ने राजा पर धर्म के इस नियन्त्रण को 'मात्र नैतिक प्रतिबन्ध' कह कर महत्वहीन बता दिया है और कहा कि पारलौकिक धारणाओं पर आधारित ये नियन्त्रण राजा की निरंकुशता को रोकने में असमर्थ रहेंगे। किन्तु ऐसे समीक्षक यह भूल जाते हैं कि भारतीय परम्परा में धर्म का लौकिकता से भी उतना ही गहरा सम्बन्ध है जितना कि पारलौकिकता से। धर्म अभ्युदय का भी कारक है और निःश्रेयस का भी। *मनुस्मृति* में जब राजधर्म की चर्चा की गई है तो शास्त्रानुशासन के सन्दर्भ में की गई है और शास्त्र में प्रतिपादित धर्म राजा के लौकिक-व्यावहारिक आचरण को मर्यादित करते हैं तथा इस मर्यादा के साथ-साथ धर्म-अधर्म के पारलौकिक परिणामों का भी उल्लेख करते हैं। शास्त्र-प्रतिपादित मान्यताओं का राजा को आदर करना ही है। सम्पत्ति, उत्तराधिकार, स्वामी-सेवक-सम्बन्ध, सामाजिक परम्पराओं आदि से सम्बन्धित शास्त्रीय विधान राजा की शक्ति को सीमित करते हैं और राजा का यह दायित्व है कि वह इन नियमों की रक्षा करे। भारतीय राजदर्शन में राजा को समाज-धर्म, लोकाचार आदि में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। राजा शास्त्र-प्रतिपादित नियमों व निर्देशों में न तो संशोधन कर सकता है और न ही वह उन्हें समाप्त कर सकता है। इस प्रकार, राजा पर धर्म का नियन्त्रण मात्र औपचारिकता नहीं है, यह अत्यन्त प्रभावी एवं व्यावहारिक है। राजा कठोर नैतिक अनुशासन का पालन करने को बाध्य है ताकि उसके दुर्गुण राज्य-कार्य व सामाजिक व्यवस्था के लिए घातक न बनें। यही नहीं, राजा पर राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में भी मर्यादित आचरण करने के लिए दबाव है क्योंकि राजा न तो अनावश्यक युद्ध कर सकता है और न ही धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र में वर्णित युद्ध के उद्देश्य की अवहेलना ही कर सकता है। युद्ध के विषय में भी वह एक आचार-संहिता से मर्यादित है।

भारतीय राजविद्या की परम्परा में राजा के अभिषेक का असाधारण महत्व है, यह एक अत्यन्त मर्मपूर्ण प्रक्रिया है। राज्याभिषेक के कृत्यों के बिना राजत्व की प्राप्ति अवैधानिक मानी गई है। यद्यपि *मनुस्मृति* में राज्याभिषेक की प्रक्रिया का वर्णन नहीं है किन्तु परम्परा-प्रदत्त इस प्रक्रिया को मनु मान्यता प्रदान करते हैं। राज्याभिषेक के अन्तर्गत राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान होता है। प्रसिद्ध विद्वान वी.आर. दीक्षितार के अनुसार राजसूय यज्ञ व्यक्ति का राजनीतिक संस्कार है। राजसूय के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले कर्मकाण्डों का विशेष महत्व है क्योंकि वे राजा की मर्यादाओं को निरूपित करते हैं। एक कर्मकाण्ड है राजा द्वारा पृथ्वी और आकाश से अनुमति प्राप्त करना। इसके लिए राजा पहले सूर्य की ओर देखता है और फिर प्रजा की ओर, जिसका तात्पर्य है कि अपने गुण व कर्म से उसे सूर्य के समान प्रकाशवान होना है तथा इस आलोक के प्रभाव से लोक का पालन करना है। तदोपरान्त राजा 'रत्नियों' के पास जाकर उनसे भिक्षा ग्रहण करता है। इन रत्नियों में राजवंशी, सेनापति, ब्राह्मणी, ग्रामणी आदि राजनीतिक, सामाजिक व सैनिक-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति होते हैं। व्यक्ति को राजपद के योग्य न समझकर यदि रत्नी उसका राजत्व स्वीकार नहीं करते, तो उस व्यक्ति के पास ऐसा कोई साधन नहीं कि वह दबाव डालकर भिक्षा प्राप्त कर सके। स्पष्ट है कि राजशक्ति के निर्माण में इन रत्नियों की स्वतन्त्र व मुख्य भूमिका है। पृथ्वी से अनुमति प्राप्त करने का तात्पर्य है कि वह भूमि का स्वामी नहीं, वरन् सेवक है। राज-सिंहासन पर बैठने से

पूर्व राजा के लिए 'धृतव्रत' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय है 'विधि-पालन द्वारा शक्ति प्राप्त करने वाला'। इस प्रकार, राजा राज्य का न्यासी है, स्वामी नहीं।

यूरोप में प्रतिपादित राजत्व की इस अवधारणा के सापेक्ष मनु द्वारा प्रतिपादित परम्परागत भारतीय राजत्व की अवधारणा नितान्त भिन्न है। मनु राजा के देवत्व पर जोर देते हैं न कि राजा के दैवीय अधिकार पर। राजा के दैवीय अंशों से युक्त होने का तात्पर्य है कि वह तद्नुरूप अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करे। इसी प्रकार, मनु राजत्व को आनुवंशिक तो मानते हैं किन्तु राजा पर धर्म और सदाचार का इतना अधिक नियन्त्रण है कि वास्तविक सम्प्रभु की मान्यता तो धर्म को ही प्रदान की गई है। धर्म के प्रति राजा का विनयशील होना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि वेन, नहुष तथा सुमुखि आदि राजाओं का अविनय ही उनके पतन का कारण बना। धर्म-विरुद्ध राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने तथा उसे मृत्युदण्ड तक देने का प्राविधान है। भारतीय राजशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान जे.जे. अन्जारिया मानते हैं कि *मनुस्मृति* में राजा नहीं, राजत्व दैवीय है और वह भी गुणों के आधार पर। यदि राजा राजत्व की शर्तों का पालन करेगा, तभी प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करेगी।

राजा के उपरान्त राज्य के सात अंगों में दूसरा महत्वपूर्ण अंग मंत्रि-परिषद है। शास्त्र का निर्देश है कि राजा को वेश-परम्परागत, शास्त्र-प्रवीण, वीर, उच्चकुलोद्भव तथा भली भाँति परीक्षित व्यक्तियों को ही अमात्य (मंत्री) बनाना चाहिए। राजा के सन्देश-स्रोत के रूप में दूतों का तथा प्रजा को धर्माचरण की प्रेरणा देने के लिए पुरोहित का भी महत्व बताया गया है।

भारतीय राज-दर्शन की परम्परा में राजा या उसकी मंत्रिपरिषद को विधि-निर्माण का अधिकार नहीं दिया गया है। आधुनिक राज्यों में विधि का अन्तिम स्रोत वे संसदें होती हैं जिनका निर्वाचन जनता के द्वारा समय-समय पर किया जाता है। भारतीय राजशास्त्र में यह दृष्टिकोण भी अमान्य है। भारतीय परम्परा में विधि को सनातन माना गया है जिसके लिए 'ऋत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'ऋत' राजा और राज्य के पूर्व विद्यमान है। राजा का कार्य ऋत् पर आधारित व्यवस्था को क्रियान्वित करना मात्र है। श्रुति और स्मृति ऋत् को प्रकट एवं स्पष्ट करती हैं और यही विधि के आधार-स्रोत हैं। श्रुति और स्मृति के अतिरिक्त सदाचार और आत्म-प्रेरणा या आत्म-तुष्टि को भी विधि के स्रोतों में सम्मिलित किया गया है। वेद अपौरुषेय है तथा विधि का प्रथम स्रोत है। वेद स्वयं-प्रमाण, नित्य और धर्माधर्म का निर्धारक है। वेद ऋत् को प्रकट करता है और उसका सामाजिक स्वरूप ही विधि या धर्म के रूप में व्यवहृत होता है। यही समाज का आदर्श है। स्मृतियाँ 'वेदों का स्मरण' हैं तथा वैदिक ज्ञान को सामाजिक आचार में परिणत करने का माध्यम हैं। ये विधि-निषेध की प्रस्तोता भी हैं। इसी क्रम में सदाचार का आधार शिष्टों का आचरण माना गया है। ऐसा आचरण वस्तुतः दीर्घ परम्परा से विकसित और स्थापित होता है। सदाचार का श्रुति एवं स्मृति से विरोध नहीं होता। मनु ने सरस्वती एवं दृषद्वती की भूमि को ब्रह्मावर्त माना है और वहीं की परम्परा से प्राप्त आचार को सदाचार माना है। अतएव, सदाचार के अन्तर्गत देश, जाति व कुल के वे आचार आते हैं जो वेद-विरुद्ध न हों। मनु नास्तिकों व पाखण्डियों के आचरण को सिरे से अस्वीकार कर देते हैं। देश-भेद से आचारों में अन्तर पड़ सकता है। इसलिए विभिन्न प्रकार के आचार राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं। राजा का यह कर्त्तव्य है कि विवादों का निर्णय करते समय कुल, श्रेणी, जाति आदि के आचारों का ध्यान रखे। इस प्रकार राजा को सदाचार को संशोधित अथवा नियंत्रित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। उसका कार्य मात्र सदाचार के पालन को सुनिश्चित करना है। आत्म-तुष्टि को विधि का चतुर्थ स्रोत माना गया है। आधुनिक विधिशास्त्र में विवेक (Discretion) एवं औचित्य (Equity) का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में होता है जो आत्मतुष्टि का अभिप्राय है।

इस प्रकार, राज-दर्शन की भारतीय परम्परा में राजा अथवा मंत्रिपरिषद को विधि-निर्माण का अधिकार नहीं प्रदान किया गया है। धर्म एवं नीति की रचना ईश्वरीय है और राजा का दायित्व उसके निर्देशों का क्रियान्वयन करना मात्र है। प्रसिद्ध विधिशास्त्री एन.सी. सेनगुप्त का विचार है कि मनु या कोई शास्त्रकार राजा को विधायक (Law-giver) नहीं मानते। *मनुस्मृति* का भाष्य करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि धर्म को जो इष्ट हो, राजा उसी के अनुसार व्यवस्था करे। राजाज्ञा या राजशासन शास्त्राचार के विरूद्ध नहीं होने चाहिए। राजा विधायक नहीं, न्यायकर्ता है।

राज्य के तीसरे अंग के रूप में 'राष्ट्र' का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि वह राज्य का दीप्तियुक्त भौतिक आधार तो बन ही सके; उसमें प्रशासनिक सुव्यवस्था, स्थानीय संस्थाओं को स्वायत्तता तथा लोक-मान्यताओं एवं

लोकाचारों का संरक्षण भी सुनिश्चित हो सके। इसी प्रकार 'दुर्ग' या राजधानी राष्ट्र की सम्पत्ति का दर्पण है, राष्ट्र का हृदयस्थल है, अतः इसकी सुरक्षा भी राज्य की प्रमुख चिंता है। सप्तांगों में 'कोष' को राज्य का मूल माना गया है तथा करारोपण के सिद्धान्तों का विशद वर्णन किया गया है। भारतीय राजशास्त्रकारों ने राज्य के अंगों में 'बल' की भी विस्तारपूर्वक चर्चा की है। महाभारत के उद्योग-पर्व में 'बल' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है। बल के पाँच प्रकार बताए गए हैं- बाहुबल, अमात्यबल, धनबल, अभिजातबल और प्रज्ञाबल। महाभारत में कहा गया है कि सैन्यबल तो बल का निकृष्ट प्रकार है, सर्वोत्तम बल तो प्रज्ञाबल होता है (यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते)। फिर भी राज्य के रक्षण एवं उन्नयन के लिए सैन्यबल को भी व्यापक महत्ता प्रदान की गयी है। राज्य के सातवें अंग के रूप में 'मित्र' की चर्चा करते हुए मित्र की महत्ता, मण्डल-सिद्धान्त, षड्गुण-नीति, उपायचतुष्ट्य तथा दण्ड-सिद्धान्त का भी विशद विवेचन किया गया है। श्रुति के अनुरूप धर्म और धर्म के अनुरूप राज्य-संचालन की व्यवस्था को सुनिश्चित करना पारम्परिक भारतीय राजशास्त्र की अप्रतिम विशेषता है।

स्पष्ट है कि भारत में राज्य-व्यवस्था का औपकरणीय महत्व है। यह भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को उसका परम लक्ष्य प्रदान कराने वाली व्यवस्था की रक्षक अथवा कंटकशोधक है। भारत एक धर्मप्राण अधिष्ठान है - यहाँ धर्म का लोक-विग्रह ही संस्कृति अथवा सभ्यता है। जैसा पहले कहा गया है, यह भारतीय अधिष्ठान एक विशिष्ट जिज्ञासा-केन्द्रित अधिष्ठान है। यह जिज्ञासा है - मैं कौन हूँ - आत्मबोध यहाँ की मूल-जिज्ञासा है - आत्मबोध की प्रकृति ही एकात्मबोधमय है - यह केन्द्रीय विचार समग्र भारतीय जीवन-विधान के दौरान अवान्तर-कथा की तरह विद्यमान रहता है। इसी की चाह किसी भी भारतीय उपक्रम का औचित्य तय करती है। अतः, भारतीय अधिष्ठान एक आत्मबोध-मूलक अधिष्ठान है। धर्म (अथवा शिक्षा) का प्रयोजन आत्मबोध की इस दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को गढ़ने में निहित है। दूसरे शब्दों में, धर्म यहाँ मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने की कला है। धर्म की इसी व्यवस्था को यहाँ ऋत (order) कहा गया है। राज-विद्या इसी धर्म-व्यवस्था की रक्षक/परिपोषक है। भारत में विद्याएं ब्रह्मविद्या का अंश मानी गयी हैं। उनका महत्व ब्रह्मविद्या का अंश होने के कारण ही है। देवता इन विद्याओं के अधिष्ठान हैं तथा शब्द या शास्त्र इनके प्रमाण हैं। इसीलिए किसी व्यवस्था या विचार का धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत होना यहाँ अपरिहार्य माना गया है। इसी प्रयोजन से भारतीय राजशास्त्र में समस्त शास्त्रों के सांगोपांग निर्णय और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण हेतु धर्म-मूलक त्रयी का विधान है, संघ-शास्त्रानुष्ठान की एकता हेतु अर्थ-मूलक वार्त्ता का विधान है, योग-क्षेम की रक्षा हेतु राज्य-मूलक दण्डनीति का विधान है तथा बुद्धि का स्थैर्य स्थापित करते हुए पारस्परिक द्वन्द्वों का समाधान करने हेतु विद्या-मूलक आन्वीक्षिकी का विधान है। ब्रह्मविद्या का स्वरूप साधनागम्य या तप-मूलक है - अतः विद्या का स्वरूप भी यहाँ साधनालभ्य या तपोद्भूत है। ऋषि यहाँ वह तपः-पुंज है, जिसने विद्या का साक्षात्कार किया है, जो विद्या का साक्षात्, सम्मुख द्रष्टा है। भारत में ऋषि-प्रणीत और शास्त्र-प्रणीत शुद्ध विद्या की मीमांसा का एक राजपथ है जिस पर आधिकारिक गुरुओं और सुपात्र शिष्यों की स्वायत्त अथवा सम्प्रदायबद्ध परम्परा चलती रही है।

इस शास्त्रीय परम्परा के प्रथम-सिद्धांत कर्म और पुनर्जन्म, चराचर का विचार, पुरुष-प्रकृति-संबंध, त्रिगुणात्मकता, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ और ऋण-त्रय के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यही प्रथम-सिद्धांत आचरण और विधि-निषेध के व्यवहार का आधार हैं। गुण का प्रश्न तात्त्विक प्रश्न है, यह अस्तित्व का दर्शन है तथा इस पर आधारित वर्णाश्रम का मुख्य प्रयोजन वृत्ति का संरक्षण है और इसका अनुपालन राज्य का आधारभूत कर्त्तव्य है। स्पष्ट ही ये व्यवस्थाएं मनुष्य की इच्छा, कामना अथवा परिस्थिति की उपज नहीं हैं।

भारतीय राज्य-व्यवस्था का स्वरूप आधुनिक राज्य की भाँति न तो शक्ति-केन्द्रित है और न ही संरचना-मूलक, वरन् यह तत्त्व-प्रधान है। सनातन धर्म के ये प्रथम-सिद्धांत ही इस तत्त्व की प्रकृति का निरूपण करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जो रामराज्य भारतीय राज्य-व्यवस्था का आदर्श माना जाता है उसमें राजा और राज्य का संबंध जीवन-मरण का संबंध है। भगवान राम अपनी समस्त प्रजा की मोक्ष की कामना के साथ राज्य करते हैं। यह राम की अविचल धर्मनिष्ठा, उनके तप, तेज और प्रताप का प्रभाव है कि उनकी प्रजा भी धर्मनिष्ठ और निश्चिंत है, उनके राज्य में देवता और पितर संतुष्ट हैं तथा परिणामस्वरूप प्रकृति मनोरम है, जीवन समृद्ध है और राज्य स्थिर है।

इसी प्रकार, यहाँ 'लोकतंत्र' का तात्त्विक अर्थ भी केवल विकेंद्रीकरण तक सीमित नहीं है। 'लोक' का तात्पर्य धर्म के प्रकाश से, चिति के प्रकाश से 'आलोकित' जन से है। केवल ऐसे ही जन का सुशासन संभव है, केवल ऐसे ही 'लोक'

का 'तंत्र' सम्भव है। धर्म के आलोक के अभाव में शासन की व्यवस्था चाहे केन्द्रित हो अथवा विकेन्द्रित - एक निरंकुशता को जन्म देगी तो दूसरी अराजकता को। आधुनिक व्यवस्था में जिसे लोकतंत्र कहा जाता है वह एक संदर्भहीन और विसंगतिपूर्ण व्यवस्था है। यह आम मनुष्य की असहमति-आधारित मतगणना पर आधारित वह व्यवस्था है जो श्रेष्ठता और योग्यता की सामाजिक स्वीकृति का अन्य कोई आधार नहीं मानती। मनुष्य और परिवार के आधार पर असहमति को बढ़ावा देने वाली यह व्यवस्था राष्ट्र के निर्णायक प्रश्नों के संबंध में सहमति की असंभव खोज करती फिरती है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन-विधान में तात्त्विक एक-सूत्रता, इस एकता से उद्‌भूत अनेकता और धर्म के विधान से आच्छादित ईश्वर-मनुष्य और प्रकृति की सोपानवत् व्यवस्था विद्यमान है। इसी सांगोपांगता के कारण भारतीय जीवन-विधान के अन्तर्गत सम्यक् स्थिति में तत्त्व, अध्यात्म, धर्म, समाज, राजनीति, अर्थ– सभी या तो साथ-साथ प्रतिष्ठित होते हैं या विपर्यय के उत्पन्न होने पर साथ-साथ ही अप्रतिष्ठित होते हैं। जीवन की इस सांगोपांगता का एक वैश्विक सन्दर्भ भी है, किन्तु इस वैश्विक सन्दर्भ की अन्तर्धारा अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता से होकर ही प्रवाहित होती है। आजकल वैश्विकता का प्रभाव भारतीयों पर कुछ बढ़ा हुआ है और इस वैश्विक ऐषणा की कीमत वे अपनी विशिष्टता की क्षति करके भी देने को तैयार दिखते हैं। गीता, आयुर्वेद, योग, संगीत, कला और वास्तु को वैश्विक आयाम बनाने की ललक में वे भूल रहे हैं कि इन विद्याओं के विशिष्ट सम्दर्भ हैं। गीता का मूल प्रश्न जीवात्मा का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध का है जिसके निष्पादन में कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि विभिन्न उपविषयों का प्रणयन किया गया है। इसी प्रकार योग और योग-मूलक जीवन के लिए विशिष्ट जीवनचर्या और आहार-विहार का विधायन करने वाले आयुर्वेदशास्त्र का एक विशेष भारतीय सन्दर्भ है। यही बातें संगीत, कला और वास्तु के सम्बन्ध में भी लागू होती है। राजनीति इसी प्रकार की विशिष्टताओं से युक्त जीवन-विधान का रक्षा-उपकरण या परिपोषक है, अर्थ इसी का संसाधन, शिक्षा इसी का उपाय और समाज इसी का अधिष्ठान है। भारतीय शास्त्रीय ग्रन्थों में दृश्य सांगोपांगता, समग्रता और सामंजस्य को इसी आलोक में समझना चाहिए। सुदीर्घ ऐतिहासिक अतिक्रमण और विजातीय प्रभाव के कारण भारतीय चिति पर्याप्त रूप से अस्त-व्यस्त हुई है। इसका परिणाम अपने सन्दर्भों के प्रति प्रामाणिकता का प्रश्न उत्पन्न होने के रूप में देखा जा सकता है जो वास्तव में अपनी जीवन-दृष्टि के प्रति ही हमारे विश्वास के दरकने का परिणाम है।

भारतीय 'लोकतंत्र' की पुनर्प्रतिष्ठा करने की दिशा में प्रमुख आवश्यकता यह है कि अपने वैचारिक अधिष्ठानों को शुद्ध करने का प्रयास किया जाए। आधुनिक युग के विचारों और विचारकों के बारे में बहुत सावधानी और सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। हम इस युग की अवहेलना भी नहीं कर सकते क्योंकि आधुनिक युग के चुनौतीपूर्ण प्रश्नों को समझने के लिए इस युग की गत्यात्मकता (dynamics) की समझ भी अपरिहार्य है। हमारे राजनीतिक विमर्श में कई ऐसी अभारतीय और अपरम्परागत अवधारणाएं प्रविष्ट करा दी गई हैं जो भारतीय संदर्भों से रहित हैं किन्तु उन्हें भारतीय शब्द प्रदान कर दिया गया है। Democracy के लिए लोकतंत्र, Liberalism के लिए उदारवाद, Right के लिए अधिकार, Sovereignty के लिए संप्रभुता, Freedom of Choice के लिए स्वतंत्रता, Equality के लिए समानता, Justice के लिए न्याय, Welfare State के लिए कल्याणकारी राज्य, Law के लिए विधि तथा Tolerance के लिए सहिष्णुता इसी प्रकार के अर्थ-विपर्ययुक्त तथा संदर्भहीन प्रयोग हैं। इसके विपरीत भारतीय जनतन्त्र को समझने के लिए जिन आधारभूत प्रत्ययों और संदर्भों की अपरिहार्यता है उनके आधुनिक पर्याय अनुपलब्ध होने की दशा में उन्हें अकादमिक विमर्श से लगभग बाहर कर दिया गया है। ऋत, चिति, विराट्, अभ्युदय, देश, राष्ट्र, जाति, प्रताप, ऐश्वर्य, तेज, तप, पुरुषार्थ, गुण, ऋण, अर्थ, विज्ञान, संस्कृति, इतिहास तथा काल और काल-बोध से संबंधित अवधारणाओं को इस श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है। अतः इन शब्दों के पुनर्परिभाषीकरण तथा स्वपरिभाषीकरण की महती आवश्यकता है। इसी प्रकार, परम्परागत भारतीय दृष्टि से विषयों और विचारों तथा उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन भी आवश्यक है। कुल मिलाकर आधुनिक विश्व-दृष्टि का विकास-क्रम उसकी चुनौतियों, भारतीय विचार-दृष्टि पर उसके प्रभाव तथा उसके प्रत्युत्तर का समानस्तरीय प्रयास करने की आवश्यकता है। यदि व्यापक राजनीतिक फलक पर इन विचारों का अनुप्रयोग संभव न दिख रहा हो तो सामुदायिक, सांस्कृतिक और अकादमिक फलक पर इनके प्रयोग को आत्मविश्वासपूर्वक तत्काल आरम्भ करने की आवश्यकता है।

कृषि-परम्परा का पोषक अर्थशास्त्र

भारतीय परम्परा में समाज और राजधर्म का स्वरूप समझने के बाद संक्षेप में इसकी आर्थिक दृष्टि पर भी प्रकाश डालना समीचीन होगा। परम्परा-प्रदत्त *दैशिक-शास्त्र* के अनुसार शासनिक स्वतन्त्रता जिस पौरुष रूपी शरीर का प्राण है, आर्थिक स्वतन्त्रता उसकी रीढ़ है। जैसे बिना रीढ़ के शरीर खड़ा नहीं रह सकता है, वैसे ही बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के कोई भी मनुष्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता है। आर्थिक रूप से परतन्त्र रहने से मनुष्य का ध्यान पुरुषार्थ की ओर जाता ही नहीं, और यदि गया भी तो उसमें हाथ डालने का साहस नहीं होता। अन्न-वस्त्र की चिंता अथवा भोग-विलासों की आसक्ति उसको एक प्रकार से नपुंसक बना देती है, अपरंच आर्थिक परतन्त्रता के कारण किसी समाज की शासनिक स्वतन्त्रता भी बहुत दिनों तक नहीं निभ सकती है, प्रतिक्षण उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का प्रपात होने का अन्देशा रहता है। इसके कारण मनुष्य की प्रवृत्ति नीच कामों की ओर हो जाती है। व्यभिचार को छोड़ और जितने नीच कर्म होते हैं उन सबका कारण प्रायः यही परतन्त्रता है। अतः समष्टिरूप और व्यष्टिरूप से प्रजा की आर्थिक स्वतन्त्रता बनाए रखना राज्य का परमधर्म समझा जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र की उत्पत्ति का यही कारण है जिसकी भगवती प्रकृति का यह सनातन नियम है कि पौरुष और विलास एक साथ नहीं रह सकते। पारंपरिक आर्य-ज्ञान, आर्य-शिक्षा और आर्य-आदर्श जड़ज्ञानवादी, राजसिक और भोगपारायण अधुनातन पाश्चात्य जाति के ज्ञान, शिक्षा और आदर्श से भिन्न हैं। इन पाश्चात्य लोगों के मत में स्वार्थ और सुखान्वेषण के अभाव में कर्म अनाचरणीय है। उनके विज्ञान का यही मूलमन्त्र है कि जीविका के निमित्त जो संघर्ष दृष्टिगोचर है उसी द्वारा संसार का संगठन होता है और उसी के द्वारा संसार की क्रमोन्नति सम्पादित होती है। दूसरी ओर आर्य लोग इष्ट-साधन तथा अनिष्ट-वर्जन के लिए सचेष्ट होते हैं, किन्तु इष्टलाभ होने पर जय के मत्त से उन्मत्त नहीं हो जाते और अनिष्ट होने पर भयभीत नहीं होते। जीवन के व्यवहार में मित्र की सहायता करना और शत्रु का पराजय करना उनके उद्योग का उद्देश्य होता है, परन्तु वे शत्रु के साथ विद्वेष नहीं करते और मित्र का अन्याय में साथ नहीं देते। कर्तव्य के अनुरोध से वे बन्धुवर्ग का भी संहार कर सकते हैं और विपक्ष की प्राणरक्षा के लिए प्राणत्याग भी कर सकते हैं। सुख उनको प्रिय है, दुःख उनको अप्रिय है; परन्तु वह सुख में अधीर नहीं हो जाते और दुःख में भी उनका धैर्य और उनकी तुष्टि स्खलित नहीं होती। वह पाप का परित्याग और पुण्य का संचय करते हैं, परन्तु पुण्य-कर्म करके उनको गर्व नहीं होता और पाप में पड़ने पर दुर्बलता न दिखाते हुए वे अपने कर्दमाक्त शरीर को शुद्ध करके पुनः आत्मोन्नति के लिए सचेष्ट हो जाते हैं। आर्य लोग कार्यसिद्धि के लिए विपुल प्रयत्न करते हैं, अनेकों बार पराजित होने पर भी कार्य से मुख नहीं मोड़ते, किन्तु चेष्टा विफल होने पर दुःखित, असन्तुष्ट तथा विरक्त होना उनके लिए अधर्म है। इसमें सन्देह नहीं कि जो मनुष्य योगारूढ़ होकर गुणातीत भाव से कर्म करने में समर्थ होता है उसके लिए द्वन्द्व का नाश हो जाता है। जगन्माता जो कार्य उसके लिए निर्धारित करती है, वही कार्य अनासक्त भाव से वह करता है; जो फल प्रदान करती है, आनन्द-पूर्वक उसी फल का वह उपभोग करता है; स्वपक्ष कहकर जिसको माता निर्दिष्ट करती है, उसी के साथ वह माता का कार्य-साधन करता है और विपक्ष कहकर जिसको निर्दिष्ट करती है, उसका उसी आदेशानुसार वह दमन अथवा संहार करता है। यही पारम्परिक आर्य-शिक्षा है। इस शिक्षा में विद्वेष या घृणा के लिए स्थान नहीं है। यही जीवन को अर्थवान बनाने की कला-साधना है।

चूँकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति इसी सनातन एकात्म परम्परा का लोक-विग्रह है, इसीलिए यहाँ 'अर्थ' का भी विशेष प्रयोजन है। आधुनिक युग, जिसे अर्थ-प्रधान कहा गया है, वह वस्तुतः अनर्थ-प्रधान है। कृष्ण-यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त में अर्थ-स्वरूपा लक्ष्मी को जगतपालक श्री विष्णु की द्वितीय पत्नी ह्री, अर्थात् लज्जा के साथ स्मरण किया गया है। यह लज्जा साधारण लज्जा नहीं है। इसका प्रधान केंद्रस्थान भारतवर्षीय धर्माचरणशील समाज है जिसे अनादिकाल से शास्त्राज्ञा का उल्लंघन करने में लज्जा का अनुभव होता है। केवल ऐसे धर्मशील, लज्जाशील, 'ह्री'-युक्त समाज में ही 'श्री' का निवास हो सकता है। अपने आचरण से च्युत निर्लज्ज समाज के 'अर्थ' को आप व्यवस्थित कर ही नहीं सकते। यहाँ आचार्य कौटिल्य के इस नीति-सूत्र का पुरजोर समर्थन किया गया है कि सुखस्यमूलं धर्मः, धर्मस्यमूलं अर्थः, अर्थस्यमूलं राज्यः ...। राज्य का यह अनिवार्य दायित्व माना गया है कि वह इस प्रकार की अर्थव्यवस्था करे जिससे लोग अपने धर्म का पालन कर सकें, क्योंकि अर्थ की प्रकृति, अर्थ का प्रभाव या अर्थ का अभाव वे परिस्थितियाँ हैं जो लोगों के धर्मपालन

हेतु उपयुक्त वातावरण का निर्माण करने में महत्वपूर्ण हैं। सुसाध्य आजीविका का हमारे *दैशिक-शास्त्र* में महत्वपूर्ण स्थान है। इसी अभिप्राय से आनन्द कुमारस्वामी ने स्वदेशी को 'sincerity' कहा है।

परम्परागत भारतीय सामाजिक जीवन का स्वरूप इस अर्थ में विशिष्ट रहा है कि वहाँ किसी सम्यक विचार के आधार पर संस्थाएँ स्वरूप ग्रहण करती थीं। इन विचारों के प्रति सर्वसम्मान्य स्वीकृति (agreement over the First Principles) व्याप्त रहती थी। नीचे से लेकर ऊपर तक ये विचार ही प्रभावी बने रहते थे। समाज का अनुशासन और समाज की व्यवस्था इन विचारों के कारण ही बनी रहती थी। इसीलिए समाज में व्यक्ति की भूमिका तथा संस्थाओं का स्वरूप प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का होता था। आधुनिक समाजविज्ञानी इसी अप्रत्यक्ष भाव-भूमि को समझने में भूल कर देते हैं अथवा इसकी अनदेखी कर देते हैं। वस्तुतः, आधुनिक पर्यवेक्षणात्मक दृष्टि की पकड़ में केवल प्रत्यक्ष और सक्रिय तत्त्व ही आ पाते हैं, अप्रत्यक्ष और भाव-भूमि के तत्त्व इसकी पकड़ से सर्वथा बाहर रह जाते हैं। कारण कि अप्रत्यक्ष और भावभूमि के तत्त्वों को पकड़ा नहीं जाता; इन्हें आत्मसात किया जाता है और इसलिए यह एक संस्कार-शासित सन्दर्भ का विषय है। उदाहरण के लिए, भले ही प्राचीन भारत में स्थानीय संस्थाओं का विधिक स्वरूप आज की पंचायती राज संस्थाओं की तर्ज पर स्पष्ट न हो किन्तु कुछ सर्व-सम्मान्य विचारों की प्रेरणा के आलोक में लोक-जीवन प्रकाशमान एवं स्पन्दित रहता था। परिवार में माता की भूमिका, जन-जीवन में साधु-सन्तों की भूमिका और लोक-जीवन में कलाकारों की भूमिका उनकी अपेक्षाकृत अल्प सक्रिय गतिविधियों के बावजूद भाव-भूमि पर ही समझी जा सकती है। परिवार में सामान्य रूप से स्त्री और विशेष रूप से माता की भूमिका तपोद्भूत त्याग की भूमिका है, इसे आधुनिक सक्रिय नारीवादी दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। वास्तव में पुरुष की पुरुषार्थयुक्त सक्रिय भूमिका की भाव-भूमि भी तप ही है। जीवन के उच्चतर मूल्यों में सम्मिलित निःसंगता का भाव पुरुषार्थ के प्रयोजन को भी सर्वथा आच्छादित किए रहता है। कथा-सत्रों, तीज-त्योहारों, व्रत-पर्वों के समय साधु-सन्तों के वचनों का सेवन जन-सामान्य की दैनन्दिन गतिविधियों को सोद्देश्यपूर्ण तरीके से अनुशासित और प्रेरित करता रहता है। ग्रामीण जीवन में व्याप्त 'बतकही' और 'प्रपंच' के सत्र इन विचारों से स्पन्दित होते रहते हैं। इसी प्रकार लोक-जीवन की गतिशीलता और लालित्य-बोध लोक-कलाकारों के कला-अनुशासनों के द्वारा दिशा पकड़ते हैं। इन सामाजिक प्रभावों के अतिरिक्त मनुष्य का जीवन व्यक्तिगत साधनाओं, उपासनाओं तथा धर्मानुशासित विधि-निषेधों से भी मर्यादित होता रहा है। चौमासे में भागवत् का सेवन और माघ में गंगा-स्नान का माहात्म्य पारम्परिक मनुष्य के लिए सर्वस्वीकृत था, जो उसके जीवन को अनुशासन और स्पन्दन दोनों प्रदान करते थे।

इस प्रकार पारम्परिक जीवन-विधान में आज की तरह प्रत्यक्ष और सक्रिय स्थानीय संस्थाओं की संरचनात्मक प्रवृत्ति भले ही अस्पष्ट हो किन्तु उसकी भाव-भूमि पर विचारों का प्रवाह अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। आधुनिक संस्थाओं में स्थिति बिलकुल उलटी है और इसीलिए उनकी संरचना जटिल और प्रभाव क्षीण है। गांधी इस तात्त्विक विभेद को बहुत अच्छी तरह समझते हैं, इसीलिए उनकी दृष्टि में स्थानीय (अथवा राष्ट्रीय) संस्थाओं की मूल-प्रतिज्ञा बिल्कुल भिन्न है, जिसे आधुनिक ज्ञान-मीमांसा की सीमा में समझा ही नहीं जा सकता। इसलिए यह विडम्बना ही कहा जाएगा कि उस समाज के लिए सर्वजनहिताय की अवधारणा की चर्चा हो रही है जो स्वयं अपने ही मान-बिन्दुओं (First Principles) के प्रति अत्यंत आक्रामक असहमति की भावना से ग्रस्त है।

स्पष्ट है कि आधुनिक भारत में राजनीतिक सहभागिता के क्षेत्र में एक विद्रोही तेवर की संस्कृति दिखायी देती है। प्रायः आधुनिक भारत के जननायक मनमाने तरीके से कुछ विजातीय योजनाओं और कार्यक्रमों का प्रत्यारोपण भारतीय व्यवस्था में करना चाहते हैं और उसके लिए वे भारत की परम्परागत बुनियाद को क्षति पहुँचाने में भी संकोच नहीं करते। यही कारण है कि ऊपर से प्रतिबद्ध दिखते हुए भी उनके व्यक्तित्व, उनकी योजनाओं और उनके कार्यक्रमों का प्रभाव भारतवर्ष पर नकारात्मक ही पड़ा। संसद, शिक्षण संस्थाएँ, सेवा संस्थाएँ तथा परिवार सभी का विघटन इसी विद्रोही मनोवृत्ति का परिणाम है।

आधुनिक भारत में शीर्ष स्तर पर नीति-नियन्ताओं की एक ऐसी नस्ल पैदा हुई, जो अपने ही देश में बेगानी थी। उसे अपनी सभ्यता की उन समस्त उपलब्धियों पर ग्लानि थी जो इसके वास्तविक गौरव का प्रतिमान थीं। वस्तुतः ऐसा अकस्मात नहीं हुआ। यह आधुनिक उदारवादी सेकुलर प्रजातांत्रिक संस्कारों का सहज-स्वाभाविक परिणाम था जो इस पीढ़ी को पुनर्जागरणकाल के बाद निरन्तर प्राप्त होते रहे। ध्यान रहे, उदारवादी हों अथवा समाजवादी - दोनों ही समुदायों

के वैचारिक सन्निकर्षों में कोई तात्त्विक भेद दिखायी नहीं देता। ऐसी स्थिति में तिलक, गांधी, अरविन्द जैसे कुछ राजनेता अपने प्रगाढ़ संस्कारों और चमत्कारी समझ के कारण इस प्रवाह से बचे रहे; किन्तु दुर्भाग्य से सही और गलत में भेद करने का हमारा विवेक जाता रहा। इसका बहुत बड़ा कारण वही विद्रोही या आन्दोलनात्मक मनोवृत्ति है जो भारत को अराष्ट्रीयकृत (denationalize) करने पर तुली हुयी है। हमने एक विचित्र प्रकार की राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया है जिसने हमारे प्रत्येक विचार, प्रत्येक संस्था, प्रत्येक कार्यक्रम को आच्छादित कर रखा है।

ऐसा होना इसलिए स्वाभाविक कहा जा सकता है क्योंकि जिन अर्थों में नवीन राजनीतिक संस्कृति को परिभाषित किया गया वे मात्र शक्ति के तत्व के आसपास ही घूमते रहे। स्वाधीनता आन्दोलन के काल की पीढ़ी के अवसान के बाद विकसित हुई इस राजनीतिक संस्कृति का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे उच्च स्तर से स्थानीय स्तर तक राजनीतिक महत्वाकांक्षियों की एक गुणहीन जमात देश में व्याप्त हो गयी। कालान्तर में, जो हमारा वर्तमान है, हम एक ऐसी दशा के शिकार हो गए जिसे सही अर्थों में सभ्यता कहा ही नहीं जा सकता।

उक्त अस्त-व्यस्त वातावरण में हम पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से सर्वजनहिताय के स्वप्न को साकार करने निकले हैं। हमारी दृष्टि कितनी भ्रमित और हमारे उद्देश्य कितने दिशाहीन हैं, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। आकार के आधार पर हम राष्ट्र तथा ग्राम में भले ही भेद कर लें किन्तु अर्थतः और तत्वतः राष्ट्र और ग्राम में कोई भेद नहीं होता। राष्ट्र का एक अर्थ ही ग्राम किया गया है जिसका अभिप्राय है कि जहाँ हमें आश्रय और विश्रांति प्राप्त हो सके। राष्ट्र भी इसी प्रकार की संस्था है जहाँ हम अपने सर्वसम्मान्य मूल्यों के साथ सहजीवी जीवन जीने का स्थान प्राप्त कर पाते हैं। इसी समीकरण से राष्ट्र के बड़े फलक पर आने वाले अल्पाधिक परिवर्तन राष्ट्र की छोटी इकाईयों में भी प्रसारित होते चले जाते हैं। आधुनिक विकारों से छिन्न-भिन्न हमारी राष्ट्रीय स्मिता का संकट व्यापक और तीव्रतर होते संचार साधनों की सहायता से स्थानीय स्तर तक व्याप्त हो चुका है। आधुनिक नगरीय समाज के समस्त कलुषित विकार ग्रामीण जीवन में भी विसरित हो रहे हैं। ऐसे में यह अत्यन्त हास्यास्पद लगता है कि राष्ट्रीय भ्रष्टाचार से बचने के लिए गाँवों को पंचायतों के माध्यम से सीधा धन मुहैया करा दिया जाए और सर्वजनहितार्थ योजनाओं के क्रियान्वयन में ग्रामीण लोगों की सीधी भागीदारी स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से सुनिश्चित की जाए। वे सारी प्रक्रियाएँ और संसाधन जो राष्ट्रीय चरित्र के अभाव में सत्ता के शीर्ष स्तर पर भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ गए, स्थानीय स्तर पर इससे मुक्त रहंगे, यह कोरी कल्पना ही है। बल्कि, दूसरी ओर, इसका एक विपरीत और आत्मघाती परिणाम सामने आया। स्थानीय व्यवस्था, जो काफी कुछ पारम्परिक प्रेरणा से संचालित होती थी, अब स्वयं उन प्रेरणाओं के लिए घातक बनती जा रही है।

एक तो, हमने बिना सोचे-समझे आर्थिक विकास की वैश्विक संकल्पना को स्वीकार किया। किसका विकास, कितना विकास, किस कीमत पर विकास, किसलिए विकास - ये वैशिष्ट्यपूर्ण और सार्थक प्रश्न हमने अपने विचार क्षेत्र से बाहर रखे और विकास के लिए विकास की आत्मउद्देश्यीय (autotelic) अवधारणा के शिकार हो गए। गलाकाट और संकटमय प्रतिस्पर्द्धा का वातावरण हमने सर्वत्र सृजित कर दिया। मनुष्य की मनुष्य के रूप में गरिमा का प्रश्न पार्श्व में चला गया, जिसके कारण हमारा सारा सामाजिक-आर्थिक ताना-बाना क्षत-विक्षत हो गया। दूसरे, इस पतनोन्मुख समाज को हमने इतनी राजनीतिक उर्जा प्रदान कर दी कि अब उसे संभालना मुश्किल हो रहा है। भारत का ग्रामीण समाज जितना सुगठित है उतना ही संवेदनशील भी है; इसीलिए उसमें भ्रष्टाचार का प्रसार भी उतना ही तीव्र, गहन और दीर्घजीवी होगा।

इन संसाधनों को हड़पने के लिए गाँवों में घोर जातिवादी आक्रामकता, पारस्परिक सौहार्द्र का विघटन और पारिवारिक-सामाजिक मूल्यों का क्षरण होता जा रहा है। गाँवों का आन्तरिक अनुशासन लगभग भंग हो चुका है। वस्तुतः बड़े राजनेताओं ने स्वातंयोत्तर भारत में राजनीति के राजपथ तक पहुँचाने वाली विथिकाओं को इतना बदशक्ल कर दिया है कि पहले छात्र-राजनीति और अब स्थानीय राजनीति इसके कुप्रभाव से ग्रसित हो रहे हैं। राजनीतिक सहभागिता की सारी प्रक्रिया ही सन्निपातिक दोष से ग्रस्त है। गांधी का ग्राम-स्वराज का संकल्प संयम, अपरिग्रह और साहचर्य की बुनियाद पर टिका था, आधुनिक पंचायत व्यवस्था ग्रामीण जीवन को भोगयुक्त महत्वाकांक्षा, संग्रह और प्रतिस्पर्द्धा के माध्यम से क्षत-विक्षत कर रही है। पंचायत चुनावों के समय ये विकार उभर कर सामने आ जाते हैं।

ग्राम-स्वराज : कृषि-परम्परा का भारतीय संदर्भ

आधुनिक भारत में परम्परानिष्ठ आर्थिक दृष्टि का प्रवर्तन करने वाले एक महत्वपूर्ण सेतु-पुरुष महात्मा गांधी हैं। गांधी जी की इस आर्थिक दृष्टि के केन्द्र में ईश्वर की सत्ता और व्यवस्था विद्यमान है तथा मानवीय जीवन के समस्त प्रकल्प उस सत्ता से एकाकार होने के नीतिपूर्ण उपकरण हैं। बीसवीं सदी में साध्य और साधन की इस एकरूपता की पुनर्स्थापना के लिए गांधी आधुनिक ज्ञान-मीमांसा को बुनियादी रूप से बेजोड़ चुनौती देते हैं तथा परम्परागत जीवन-मूल्यों की ओर युगानुरूप संकेत करते हैं। जहाँ वे एक ओर समाज में समरसता और न्यायपूर्ण व्यवस्था के पक्षधर हैं, वहीं इसके लिए वे राज्य रूपी संस्था को एक आपद आवश्यकता मानते हैं। उनके अनुसार मनुष्य के परिष्कार और अभ्युदय का प्रश्न नैतिक है; संस्थागत, विधिक या तकनीकी नहीं। इस हेतु वे समाज में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह के पंचमहाव्रतधारी सत्याग्रहियों की आवश्यकता बताते हैं तथा तदनुरूप उनकी योग्यता और कुशलता का भी खुलासा करते हैं। विदित हो कि यही कार्य भारतीय परम्परा में साधु-समाज अनवरत रूप से करता चला आया है।

स्थानीय स्तर पर जहाँ गांधी विकेन्द्रित किन्तु आत्मनिर्भर-आत्मपरक समाज के पक्षधर हैं वहीं वैश्विक स्तर पर वे साम्राज्यवाद को शासक और शासित दोनों के लिए ही अकल्याणकारी मानते हैं। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में यही उनका मुख्य वैचारिक आग्रह रहा है। आर्थिक प्रश्नों पर गांधी का सारा जोर आचार-विचार की श्रेष्ठता तथा अपेक्षाओं के नियमन-संयमन पर केन्द्रित है। उनका न्यास-सिद्धान्त अनुपम है। एक सभ्य, सुव्यवस्थित तथा मर्यादित समाज में वे चिकित्सकों, वकीलों, संसद तथा भारी मशीनों की उपयोगिता को गंभीर संदेह की दृष्टि से देखते हैं। समाज और विश्व के सम्बन्ध में उनकी मुख्य चिन्ता उन साधनों के अपनाने पर केन्द्रित है जिससे मनुष्य का नैतिक अभ्युदय सिद्ध हो। गांधी-दर्शन इसी सूत्र का लोक-भाष्य है। दूसरे शब्दों में, यही पृष्ठभूमि सम्पूर्ण गांधी-दर्शन के प्रवाह के दौरान अवान्तर कथा की तरह विद्यमान रही है। इसमें अन्तर्निहित विचार-दृष्टि के साथ गांधी का निरन्तर साहचर्य बना रहा। उनके सम्पूर्ण चिन्तन के केन्द्र में ये ही विचार-तत्त्व आद्योपान्त उपस्थित रहे, जिनके साथ उन्होंने कभी तत्त्वतः समझौता नहीं किया। अपनी सूत्र-रचना 'हिन्द स्वराज' के सम्बन्ध में उनकी आजीवन अनवरत वैचारिक एकनिष्ठता को ध्यान में रखते हुए हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि उनके चिन्तन के केन्द्रीय सिद्धान्त कभी आधारभूत रूप से संशोधित नहीं हुए।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि भारतीय समाज का संरचनात्मक ताना-बाना इतना विशिष्ट और संवेदनशील है कि जहाँ एक ओर यह अपने समाज की दैनन्दिन और आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुनिश्चित करने में पूर्णतः सक्षम है, वहीं दूसरी ओर, इसमें किया जाने वाला अल्प-परिवर्तन भी पूरे समाज की दशा और दिशा को गहनता से प्रभावित करता है। इसीलिए संस्थाओं की निर्मिति और उनके परिचालन से पूर्व सम्पूर्ण भारतीय समाज की मनोदशा और उसकी भाव-भूमि को समझना नितान्त आवश्यक है। भारतीय व्यवस्था एक विशिष्ट भाव-भूमि पर एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त बनी एक विशिष्ट व्यवस्था है। इसकी किसी भी विशिष्टता को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। गांधी की दृष्टि में पंचायत इसी परम्परा के रक्षार्थ सर्वसम्मान्य सहमति पर आधारित एक लोक-व्यवस्था है। यहाँ कुछ सर्वजनहितकारी प्रतिष्ठित परम्पराएँ हैं जिनका रक्षण-संवर्धन पंचायत का दायित्व है। आज कि तरह पंचायत कुछ विजातीय/प्रायोजित विचारों/क्रियाकलापों की प्रयोग-स्थली नहीं है। जिस समाज की व्यवस्था के परिरक्षण का दायित्व पंचायत के ऊपर है वह एक धर्म-प्राण समाज है; एक ऐसा समाज जो ऋत के द्वारा व्यवस्थित है। अर्थ से यह पोषित तो होता है, राजनीति से यह संरक्षित तो होता है, किन्तु इसकी उत्पत्ति, उपपत्ति तथा निष्पत्ति धर्म द्वारा ही अनुशासित होती है। धर्म यहाँ की मूल नियामक शक्ति है। दूसरे शब्दों में, इस समाज की नियामक शक्ति के शास्त्रीय अथवा लोक-स्वरूप को धर्म की अनुशंसा प्राप्त करना अनिवार्य है। यहाँ प्रत्येक गतिविधि का धर्म द्वारा अनुमोदन सामान्यतः वांछित है। यहाँ लौकिक और पारलौकिक (Profane और Sacred) का तत्त्वतः भेद नहीं है। आधुनिक रोमांटिसिज़्म के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है; और इसीलिए यहाँ बौद्धिक, धार्मिक और आध्यात्मिक (Intellectual, Religious और Spiritual) एक ही मन्तव्य से प्रेरित अवधारणाएँ हैं। इसी कारण विचार और आचार की तात्त्विक एकता यहाँ की जीवनीशक्ति है और यही कारण है कि विचार और आचार तथा साध्य और साधन की पवित्रतापूर्ण एकता को गांधी व्यक्तिगत व सार्वजनिक जीवन की पूर्वशर्त मानते हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य भी समझ लेना चाहिए कि गांधी के लिए ग्राम-स्वराज या राष्ट्रीय स्वराज जैसे विचार किसी प्रकार का उपक्रम या मॉडल नहीं हैं, न ही वे किसी प्रकार की भविष्य-केन्द्रित योजना, परिकल्पना या परिदृश्य को ही हमारे सम्मुख रखते हैं; उनकी तो एकमात्र निष्ठा जीवन के आधारभूत सत्य के प्रति थी और इसीलिए बाह्य प्रकल्पों की अपेक्षा उनका सारा आग्रह मनुष्य के अन्तरतम के सतोन्मुखी होने पर था। वे कृत्रिम संस्थाओं तथा जटिल नियम-कानूनों की अपेक्षा मनुष्य की वास्तविक गरिमा के पक्षधर थे। इसी कारण वे मानते थे कि हमारी पराधीनता हमारे आन्तरिक विकारों का परिणाम है, इसलिए जब तक इन विकारों पर हम विजय नहीं प्राप्त कर लेते, केवल शक्ति द्वारा अथवा संस्थाओं के उत्तराधिकारी बदल जाने मात्र से कोई मूल्यवान सार्थक परिवर्तन संभव नहीं है।

वास्तव में, यदि गन्तव्य अनिश्चित या संदिग्ध हो तो सभ्यता की गति अथवा द्रुतगति का क्या औचित्य या उपादेयता है, सामान्यतः यह प्रश्न आधुनिक मनुष्य द्वारा उपेक्षित किया जाता है। यह आश्चर्यकारक भी नहीं होना चाहिए क्योंकि आधुनिक मनुष्य के लिए पुरुषार्थ के सीमित आयाम हैं। बुद्धि व दृष्टि की स्थूलता से जीवन व जगत का दायरा संकीर्ण हो गया है। चिन्तन के लोकतन्त्रीकरण से उपजी सापेक्षतावाद की तानाशाही (Dictatorship of Relativism) ने मत-मतान्तरों की तो झड़ी लगा दी है, किन्तु सत् व शुभ का प्रवेश प्रतिबन्धित हो गया है। महात्मा गांधी हमें इस बौद्धिक व नैतिक बियावान में मार्ग दिखाते हैं क्योंकि वे व्यक्ति को सृष्टि का मापदण्ड नहीं मानते, बुद्धि को मनुष्य का मापदण्ड नहीं मानते और बुद्धि को सत्-असत्, धर्म-अधर्म का भी मापदण्ड नहीं मानते। वे आधुनिक विचारकों द्वारा पोषित व पल्लवित विभाजनों- यथा प्रकृति बनाम मनुष्य, व्यक्ति बनाम राज्य, बुद्धि बनाम भावना, विज्ञान बनाम धर्म, पूँजी बनाम श्रम को निर्ममता से खारिज करते हैं; क्योंकि उनका मानना है कि उच्चतर दैवीय विधान की अस्वीकृति का खामियाज़ा मनुष्य को इस प्रकार के छद्म प्रश्नों व द्वन्द्वों में उलझ कर चुकाना पड़ता है। बाइबिल इन प्रश्नों व द्वन्द्वों को 'व्यर्थ कुतूहल' (Idle Curiosity) की श्रेणी में रखती है।

स्पष्ट है कि गांधी भी कोई नए प्रकार का 'मॉडल' नहीं प्रस्तुत कर रहे थे, वरन् आधुनिक प्रतिकूलताओं में भी परम्परागत दृष्टि के लिए स्थान तलाश रहे थे। गांधी-दर्शन 'रामराज्य' की भावना से अनुप्राणित है, सोने की लंका बनाना उनका उद्देश्य नहीं है। इस अर्थ में गांधी की सारी चिंता मूलतः वैचारिक है, और इसीलिए आधुनिकता को वे उसकी ज्ञान-मीमांसा के स्तर पर ही चुनौती देते हैं; उसके प्रतिष्ठानों का दृष्टांत तो वे अपनी बात को समझाने मात्र के लिए देते हैं। इस दृष्टि से वे अरस्तू की राजनीति, जो संभवतम् की कला (Art of the possible) है, के आसपास दिखायी देते हैं। वे स्वयं कहते हैं, "पश्चिम की (आधुनिक) सभ्यता को निकाल बाहर करने की ही हमें कोशिश करनी चाहिए, दूसरा सब अपने आप ठीक हो जाएगा।" इसी क्रम में यह भी ध्यान देने की बात है कि गांधी आधुनिकता को पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही सभ्यताओं के लिए घातक मानते थे। वे तो ब्रिटेन की उपनिवेशवादी मानसिकता जिसके कारण भले ही ब्रिटेन ने पूरी दुनिया पर शासन स्थापित कर लिया था, को स्वयं ब्रिटेन के लिए भी आत्मघाती मानते थे। गांधी के अनुसार इस प्रवृत्ति ने पूरे विश्व के साथ-साथ ब्रिटेन का भी चारित्रिक पतन किया है।

सघन उद्योगवाद और जटिल मशीनीकरण के रूप में अभिव्यक्त सर्वथा बहिर्मुखी विज्ञानवाद गांधी के लिए सार्वभौमिक समस्या था। यह मनुष्य और प्रकृति के मध्य से ईश्वर को विस्थापित करने का अभियान था, जो गांधी की दृष्टि में मनुष्य की आत्मा के क्षरण और उसके नैतिक पतन का कारण बना। गांधी यह समझ चुके थे कि विज्ञान एक सामान्य मानवीय क्रियाकलाप है जिसकी वस्तुनिष्ठता, तार्किकता और मूल्यों से असंपृक्तता ऊपरी दिखावा मात्र है। यथार्थ में विज्ञान के अपने पूर्वाग्रह हैं और वह दूसरी वैकल्पिक ज्ञान-सरणियों से बीस नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति से उपजे समाधान न शाश्वत हैं और न ही आत्यंतिक रूप से सर्वथा हितकारी। पश्चिमी ज्ञानोदय की फलश्रुति के रूप में विज्ञान की एक सामाजिक संस्था के रूप में गंभीर सीमाएँ हैं। गांधी के लिए वस्तुतः यही असत्य और हिंसा की सृजन-भूमि है जिसके विरूद्ध खड़े होने के लिए वे सत्याग्रह के माध्यम से आत्म-परिष्कार की अपील करते हैं। गांधी के लिए चूँकि यह सत्याग्रह व्यक्तिगत और संस्थागत दोनों स्तरों पर कारगर है, अतः उनकी दृष्टि में व्यक्ति व समाज अथवा पूर्व व पश्चिम के हितों के मध्य कोई टकराव नहीं है। सारी व्यष्टिगत और समष्टिगत विसंगतियों का कारण यह आधुनिकता ही है। ऐसा नहीं है कि आधुनिकता को ठीक प्रकार से लागू नहीं किया गया जिससे इसके कुछ अच्छे और कुछ बुरे परिणाम हुए, वरन् आधुनिकता का प्रकल्प तत्त्वतः और मूलतः दोषपूर्ण है। मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों का कोई परा-नियामक आधुनिकता स्वीकार नहीं करती, इसलिए उसकी तथाकथित अच्छाईयों के पीछे भी मनुष्य के लोभ व अहंकार का परिदृश्य स्पष्टतः दिखायी देता है

और इससे उपजी विसंगतियों का कोई अन्तिम निदान ज्ञान-मीमांसात्मक रूप से आधुनिकता के अन्दर असम्भव हो जाता है।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि गांधी की दृष्टि में समाज और राजनीति के नवनिर्माण और पुनरुत्थान के लिए मनुष्य की अवधारणा में आमूल परिवर्तन आवश्यक है। यह परिवर्तन मात्र अवधारणात्मक ही नहीं हो, व्यक्ति की मनोवृत्ति और आचरण में भी यह परिवर्तन परिलक्षित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, जीवन का आधार भौतिक इच्छाओं की तुष्टि-मात्र नहीं हो सकता और न ही यह आधार बौद्धिकता ही हो सकता है। इसलिए इन दोनों से परे जाने की आवश्यकता है और परे जाने का अर्थ मनुष्य से भी महान किसी शक्ति के अस्तित्व को स्वीकारना है; गांधी की दृष्टि के मूल में यही धारणा है जिसके द्वारा मनुष्य के अस्तित्व के दो पक्षों - निजी एवं सामुदायिक - में समन्वय-सामंजस्य स्थापित हो सके और स्थापित होकर बना रह सके। उनकी दृष्टि में यह रूपान्तरण तब तक प्रभावी और सार्थक नहीं होगा जब तक व्यक्ति के आन्तरिक जगत का रूपान्तरण नहीं होता। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को बराबर यह अनुभूति होती रहे कि वह अपने अस्तित्व से भी महत्तर किसी वृहत् अस्तित्व का एक अंग है। ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के लघुसंस्करण के रूप में ऐसा वृहत्तर अस्तित्व स्थानीय समाज या समुदाय है। इसकी बढ़ोत्तरी और मंगल के आधार पर ही व्यक्ति का सौख्य और मंगल आश्रित है। गांधी की दृष्टि में स्वदेशी की भावना से अनुप्राणित होकर ही व्यक्ति अपने स्थानीय समुदाय से अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और यही स्थानीय समुदाय उसकी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक गतिविधियों का आधार बन सकता है।

दुर्भाग्य से भारत में जनहित के शिल्पी तथा तदनुरुप समाजार्थिक व्यवस्था के नीतिकार और समीक्षक इस दृष्टि से वंचित रहे हैं। कहने को तो हम भारतीय संविधान में निहित गांधीवादी नीति-निदेशक तत्वों की प्रेरणा से सर्वजन-हितों की पूर्ति हेतु पंचायत व्यवस्था को भारत में लागू करना चाहते हैं किन्तु गांधीवादी जीवन-मूल्यों के प्रति हमारी संवेदनशीलता पूर्णतः शुष्क हो चुकी है। सर्वजन-हितों के निर्धारण तथा पंचायत व्यवस्था के संस्थापन और परिचालन के सम्बन्ध में हमारे नीति-नियंताओं की दृष्टि नितान्त आधुनिक प्रवृत्तियों से प्रेरित है। ये आधुनिक प्रवृत्तियाँ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तीनों ही क्षेत्रों में स्पष्टतः देखी जा सकती हैं। वस्तुतः, स्वातंत्र्योत्तर भारत के चरित्रांकन में पुनर्जागरण-काल की अधुनातन प्रवृत्तियों की छाप स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है। इसीलिए जहाँ एक ओर सामाजिक संस्थाओं की परम्परागत बुनियाद का क्षरण होता दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर पंचायत सरीखी संस्थाएँ भी अपना पारम्परिक स्वरूप खोकर संकीर्ण मन्तव्यों से अभिप्रेरित आर्थिक गतिविधियों के संचालन का राजनीतिक उपकरण मात्र बनकर रह गयीं। परिणामतः, सभी अधुनातन विकार इन संस्थाओं में भी प्रदर्शित होने लगे। गांधी तो ब्रिटेन की उपनिवेशवादी मानसिकता, जिसके कारण भले ही ब्रिटेन ने पूरी दुनिया पर शासन स्थापित कर लिया था, को स्वयं ब्रिटेन के लिए भी आत्मघाती मानते थे। गांधी के अनुसार इस मानसिकता ने पूरे विश्व के साथ-साथ ब्रिटेन का भी चारित्रिक पतन किया है। गांधी का *हिन्द स्वराज* इस प्रकरण का रहस्योद्घाटन करने वाला एक सशक्त दस्तावेज है।

गांधी की उक्त मान्यताएँ समय के साथ सही भी सिद्ध हुईं। आत्म-परिष्कार के अभाव में स्वतंत्र भारत विभिन्न प्रकार की आन्दोलनात्मक मनोवृत्तियों का शिकार हो गया। प्रत्येक सरकार, प्रत्येक राजनीतिक दल तथा समाज के प्रत्येक समुदाय ने अपने संकीर्ण हित-पोषण के लिए आन्दोलनात्मक कार्यक्रमों व गतिविधियों को बहुत महत्व तथा पर्याप्त पाखण्ड के साथ बढ़ावा दिया। आधुनिक उदारवादी प्रजातंत्र में इसे राजनीतिक सहभागिता नाम दिया गया। जबकि गांधी की राजनीतिक सहभाग सम्बन्धी दृष्टि बिल्कुल भिन्न थी।

स्पष्ट है कि आधुनिक भारत में राजनीतिक सहभागिता के क्षेत्र में एक विद्रोही तेवर की संस्कृति दिखायी देती है। प्रायः आधुनिक भारत के जननायक मनमाने तरीके से कुछ विजातीय योजनाओं और कार्यक्रमों का प्रत्यारोपण भारतीय व्यवस्था में करना चाहते हैं, और उसके लिए वे भारत की परम्परागत बुनियाद को क्षति पहुँचाने में भी संकोच नहीं करते। यही कारण है कि ऊपर से प्रतिबद्ध दिखते हुए भी उनके व्यक्तित्व, उनकी योजनाओं और उनके कार्यक्रमों का प्रभाव भारतवर्ष पर नकारात्मक ही पड़ा। संसद, शिक्षण संस्थाएँ, सेवा संस्थाएँ तथा परिवार सभी का विघटन इसी विद्रोही मनोवृत्ति का परिणाम है।

पारमार्थिक तत्त्वज्ञान से विच्छिन्न विकासवाद और पर्यावरण

विकास की अवधारणा आधुनिक समय की एक प्रभावशाली अवधारणा है। इस अवधारणा के कई आयाम तो हैं ही, इसके अभ्युदय और इसकी व्यापकता का एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी है। समाज विज्ञानों की भाषा में हम जिसे आधुनिक काल कहते हैं, उसकी कुछ मूल मान्यताएँ हैं, जो सृष्टि और सृष्टि के प्रवाह के साथ मनुष्य के अन्तर्सम्बन्ध को समझने की परम्परागत मान्यताओं से सर्वथा भिन्न हैं। दूसरें शब्दों में, आधुनिकता की विश्वदृष्टि न केवल परम्परागत दृष्टि से भिन्न है, वरन् परम्परागत विश्वदृष्टि का सर्वथा निषेध है। पाश्चात्य अथवा प्राच्य परम्परागत विश्वदृष्टि में ईश्वर-मनुष्य-प्रकृति की एक त्रिस्तरीय सोपानवत् (Hierarchical) व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। इस व्यवस्था में मनुष्य-मनुष्य और मनुष्य-प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों के नियामक के रूप में ईश्वरीय विधान की केन्द्रीय सत्ता और महत्ता स्वीकार की गई है। यूनानी परम्परा में इस विधान को *'Dike'* मध्यकालीन यूरोपीय परम्परा में 'प्राकृतिक विधि' (Natural Law) तथा भारतीय परम्परा में 'ऋत्' कहा गया है। न्याय का परम्परागत यूनानी स्वरूप, राजदर्शन का परम्परागत इसाई स्वरूप तथा धर्म की परम्परागत भारतीय संस्थापनाएँ क्रमशः इन्हीं मूल सिद्धान्तों (First Principles) का रूपान्तरण हैं। इन सिद्धांतों के प्रभावशील रहते मानवीय जीवन के लौकिक और पारमार्थिक तत्त्वों के मध्य एक अनिवार्य और निश्चित अन्तर्सम्बन्ध परिलक्षित होता है तथा जीवन की बहुआयामिता और बहुस्तरीयता को पर्याप्त और उचित महत्व मिलने के साथ ही जीवन का पारमार्थिक लक्ष्य ही मुख्य प्रेरक और नियामक बना रहता है। यह ठीक है कि मानव-जीवन बहुआयामी है, उसके विभिन्न सोपान हैं, विविध लक्ष्य हैं तथा उनमें अन्तर्क्रिया एवं अन्तर्सम्बन्ध विद्यमान हैं, किन्तु जिस प्रकार छोटी-बड़ी समस्त जलधाराएँ सिन्धु में विलीन होती हैं, उसी प्रकार मानव-जीवन के समस्त आयाम, समस्त लक्ष्य, समस्त सोपान एवं समस्त अन्तर्सम्बन्ध एक विराट् में अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। समस्त दृश्य-प्रपंच एक महाज्योति का प्रतिबिम्ब है; उसी से उत्सर्जित एवं उसी में विसर्जित है। यही उस परम्परा का मूल लक्षण है जो काल एवं कालातीत, लोक एवं लोकोत्तर तथा मानव एवं मानवोत्तर के मध्य सेतु है। इसलिए वह सार्वभौम भी है और विशिष्ट भी। कालातीत, लोकोत्तर एवं मानवोत्तर होने के कारण वह सार्वभौमिक है तथा देशकाल के अनुरूप कलेवर धारण करने के कारण वह विशिष्ट है। इस मूल सत्य के विस्मरण का नाम ही आधुनिकता है; जो मूल के बिना वृक्ष की, अंगी के बिना अंग की, समष्टि के बिना व्यष्टि की परिकल्पना करती है; और उसे पर्याप्त मानकर जीवन और जगत के प्रश्नों का समाधान खोजती है।

हम आधुनिक लोग कुछ विशिष्ट प्रकार के लोग हैं- हम प्रत्येक सार्थक वस्तु को पहले प्रश्नांकित करते हैं और फिर उसे अपनी तरह से पुनः परिभाषित करते हैं। किन्तु ऐसा करते समय हम उस वस्तु के चिरन्तन संदर्भ का विस्मरण कर देते हैं और आत्म-परिभाषीकर्त्ता बन जाते हैं। आत्म-परिभाषीकर्त्ता होना आधुनिक मनुष्य का मुख्य लक्षण है। यह आधुनिक मनुष्य इसलिए आत्म-परिभाषीकर्त्ता है क्योंकि यह अपने जीवन के प्रयोजनों का निर्धारण स्वयं करता है और इस निर्धारण में उसे किसी बाह्य-सत्ता या प्रभाव - चाहे वह सामाजिक परम्परा हो, रीति-रिवाज हों या धार्मिक निर्देश हों - का हस्तक्षेप सह्य नहीं, स्वीकार्य नहीं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का आत्म-परिभाषीकर्त्ता के रुप में अवतरित होना तभी सम्भव हो पाता है, जब मनुष्य ईश्वर के प्रति, परम् अज्ञात दिव्य सत्ता के प्रति विद्रोह करता है, या उससे विमुख हो जाता है। यह विद्रोह ही वस्तुतः समस्त आधुनिक वैचारिकी की मूल-प्रतिज्ञा है। इस विद्रोह के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व अपने सकल सन्दर्भ के सापेक्ष विसंगतिपूर्ण हो जाता है। आधुनिक मनुष्य इन विसंगतियों को पहचानने भी लगा है और वह इनसे मुक्त होने का प्रयत्न भी करता है; परन्तु विडम्बना यह है कि उसके ऐसे सारे प्रयत्न बाह्य जगत की संस्थाओं में परिवर्तन लाने भर तक ही सीमित रह जाते हैं और ये परिवर्तन भी आधुनिक मनुष्य की विखण्डित बुद्धि से ही प्रेरित होते हैं। ऐसे में न तो इन संस्थाओं का ही सम्यक स्वरुप स्थापित हो पाता है और न ही मनुष्य की इयत्ता या उसके सत्व की पहचान ही स्थापित हो पाती है। यह मनुष्य के अपनी अर्थवत्ता के प्रति अविश्वस्त हो जाने का संकट है। ऐसी स्थिति में उसकी समृद्धि का प्रत्यय भी निरर्थक सिद्ध होता है। समृद्धि की खोज अर्थ-संग्रह तक सीमित रह जाती है और ऐसी समृद्धि की खोज में जब स्वतंत्रता, जो आधुनिक सभ्यता की मुख्य प्रेरणाशक्ति है, का उपयोग किया जाता है तो एक आक्रामक और अन्तहीन प्रतिस्पर्द्धा का जन्म होता है और सामाजिक सौहार्द्र विनाशकारी संकट से ग्रस्त हो जाता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसे अलस्देयर मैकिंटायर ने अन्य साधनें के द्वारा चालित गृहयुद्ध की संज्ञा दी है। ऐसे में कोई सर्वसम्मान्य जीवन-दृष्टि भी ग्रहण-ग्रस्त हो जाती है। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए प्लेटो ने समाज में पारस्परिक स्नेह-भावना के विलोपन की

वास्तविकता की चर्चा की है और इसी संकट के समाधान को इंगित करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था कि स्वशासन का मापदण्ड मनुष्य के अन्तरतम में अवस्थित है; वह बाह्य जगत को चाहे जितना भी बदल दे, उससे मनुष्य का अर्न्जगत नहीं बदलता।

परम्परागत विश्वदृष्टि का निषेध करने वाली इस आधुनिक सोच ने प्रत्यक्ष विज्ञानवाद पर आधारित विकासवाद की जिस अवधारणा को जन्म दिया उसका स्वरूप एकरेखीय (Linear) है। यह एक-रेखीयता वस्तुतः मनुष्य और प्रकृति के अन्तर्सम्बन्धों के मध्य नियामक-रूप से अवस्थित पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व का नकार या निषेध है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक विकासवादी अवधारणा मूलतः आध्यात्मिक चेतना के ह्रास, विज्ञानवाद के अभ्युत्थान और प्रसार तथा मानव और प्रकृति के विच्छेद, विनिपात और अपवित्रीकरण के वृत्तान्त का निष्कर्ष है। पारमार्थिक तत्त्वज्ञान से विच्छिन्न मानवीय बुद्धि अहंकार-प्रधान, उच्छृंखल तथा आक्रामक हो जाती है और शक्ति एवं हिंसा का प्रतिरूप बन जाती है। वह प्राकृतिक पदार्थों (*Natura Naturata*) को उनके मूल जीवन-स्रोत आदिशक्ति (*Natura Naturans*) से पृथक करके उन्हें अविहित विनियोग, उपभोग और शोषण का विषय बना लेती है। प्रतिक्रियास्वरूप प्रकृति भी अपनी निगूढ़ शक्तियों के माध्यम से अपना विकराल, रौद्र रूप प्रकट करने के लिए विवश हो जाती है। विकास और पर्यावरण के मध्य उत्पन्न वर्तमान द्वन्द्व का यही कारण है।

पर्यावरण के इस संकट का संज्ञान आधुनिक विज्ञान-जगत ने भी लिया है, किन्तु यहाँ एक तथ्य का अनावरण करना समीचीन होगा। यदि सम्पूर्ण जगत को इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो पर्यावरण का संकट केवल वातावरण के प्रदूषण की समस्या तो नहीं ही है, वरन् मुख्यतः आधुनिक सभ्यता और संस्कृति का संकट है। यह वैयक्तिक बुद्धिवाद और यांत्रिक विज्ञानवाद द्वारा मनुष्य की प्रकृति पर विजय की महत्त्वाकांक्षा का सहज स्वाभाविक परिणाम है। इसी बुद्धिवाद और विज्ञानवाद की देन है- आधुनिक उद्योगवाद, जिसे हम विकास का प्रतिरूप मानते हैं। वस्तुतः, यह दृष्टि ही आधुनिक विज्ञान का जन्मजात विकार है। इस दृष्टि के रहते आधुनिक विज्ञान कभी पर्यावरण जैसे संकट का समुचित समाधान प्रस्तुत कर ही नहीं सकता। कारण कि आधुनिक विज्ञान पर्यावरण को जड़ भौतिक पदार्थों का आपतिक संकलन या बाह्य शक्तियों का प्रासंगिक संयोग-मात्र मानता है। जबकि, सम्यक दृष्टि में पर्यावरण जीवात्मा का सजीव, प्राणप्रवण लौकिक आश्रय है। सम्पूर्ण दृश्य-जगत एक अदृष्ट पारमार्थिक सत्ता का प्रतिबिम्ब है। पदार्थ की सत्ता में भी एक अत्यंत सूक्ष्म, रहस्यात्मक और तत्त्वबोधक लाक्षणिकता सन्निहित है। इसके अतिरिक्त आकाश, पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि जैसे तत्त्वों में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध भी विद्यमान है, क्योंकि वे एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके अपने सर्वथा पृथक या स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं है। आधुनिक प्रत्यक्षवादी विश्लेषणात्मक पद्धति प्रकृति को उसके विभिन्न अवयवों में विभाजित करके विखण्डन-संयोजन (resolution-composition) प्रक्रिया द्वारा उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करती है, किन्तु इससे उसकी समग्र एकता नष्ट हो जाती है; इसीलिए पर्यावरण की समस्या कोई तकनीकी समस्या नहीं है। यह मानव के पृथ्वी पर अस्तित्व का प्रश्न है। आत्मबोध के अभाव में इस समस्या का समाधान असम्भव है।

किन्तु, विडम्बना यह है कि आधुनिक मनुष्य बौद्धिक रूप से अग्राह्य और तत्त्वतः सर्वाधिकारवादी वैज्ञानिक आविष्कारों एवं तथाकथित उपलब्धियों का दास हो गया है। फ्रिथ्जॉफ शुआँ के शब्दों में यह एक ऐसा विज्ञान है, जिसे स्वयं अपनी सीमा का ज्ञान नहीं है, और इसी कारण वह अपने से परे के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनभिज्ञ है। सम्प्रति, इस सम्पूर्ण समस्या को हम पर्यावरण के संकट के रूप में देख सकते हैं। विकास की स्वपरिभाषित (Autotelic), रेखीय (Linear) और असीम (Unlimited) अवधारणा ने श्रेष्ठता (Goodness) और सद्गुण (Virtue) जैसे परम्परागत गुणों को प्रतिस्थापित और विस्मृत कर दिया है। विकास की इस स्वयंसिद्ध दौड़ में हमें कभी इस बात का स्मरण ही नहीं होता कि हम किसका, किस दिशा में, किस सीमा तक, किस उद्देश्य से और किस कीमत पर विकास करते जा रहे हैं। इसलिए, यदि थोड़ा भी ठहरकर सोचा जाए तो यह आसानी से समझ में आ जाता है कि पर्यावरण का वर्तमान संकट मूलतः आध्यात्मिक चेतना के ह्रास, विज्ञानवाद के अभ्युत्थान और प्रसार तथा मानव व प्रकृति के विच्छेद, विनिपात एवं अपवित्रीकरण के वृत्तान्त का निष्कर्ष है। दूसरे शब्दों में, पर्यावरण का संकट आधुनिक विज्ञान की पराचेतना-विहीन निरा जड़-प्रधान दृष्टि का परिणाम है।

बुद्धिवाद मानव और मानवोत्तर, दैहिक और दैविक को संयुक्त करने वाली श्रृंखला अर्थात् प्रज्ञा की अवज्ञा करता है, और इसप्रकार हमें वैयक्तिक एवं ऐहिक जगत तक सीमित कर देता है। दूसरी ओर, यांत्रिक विज्ञानवाद पदार्थ, उसके विस्तार एवं उसकी संरचना को ही अन्तिम सत्य समझता है। बीसवीं सदी के प्रसिद्ध तत्त्वशास्त्री, विचारक और पर्यावरणविद् प्रोफेसर सैयद हुसैन नस्र इस विज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यद्यपि विज्ञान अपने आप में एक वैध विद्या है, किन्तु विज्ञान की भूमिका, उसका कार्य और उसका प्रयोग इस कारण अवैध तथा खतरनाक हो जाता है क्योंकि इसमें एक उच्च-स्तरीय पराविद्या का अभाव तो है ही जो विज्ञान की समग्रता के लिए आवश्यक है, साथ ही यह प्रकृति के पवित्र और आध्यात्मिक मूल्यों का क्षरण भी करता है।

आधुनिक विज्ञान की ज्ञान-प्रक्रिया भाज्य से अविभाज्य की ओर, खण्ड से अखण्ड की ओर जाने की है। यह प्रक्रिया भी आत्म-विरोधी है। अखण्ड से ही खण्ड का ज्ञान हो सकता है। जो सम्पूर्ण है, पूर्णता है, उसके ज्ञान से ही अपूर्ण का ज्ञान सम्भव है। इस प्रकार, विज्ञान (अर्थात् खण्ड ज्ञान या अधूरे ज्ञान) को समाज का आधार बनाना खतरनाक और असम्भाव्य है। वर्तमान में प्रस्तुत पर्यावरण-संकट, आणविक संकट आदि विज्ञान की अधूरे ज्ञान की प्रक्रिया की ही देन हैं। प्रोफेसर ए.के. सरन के अनुसार, ये विज्ञान की पथभ्रष्टता के नमूने नहीं हैं, वरन् विज्ञान के स्वभाव के ही फलित हैं। ये संकट विज्ञान के स्वाभाविक अर्थ की उपलब्धि हैं।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी तत्त्वशास्त्री और विचारक रेने गेनों पारम्परिक विद्या और आधुनिक विज्ञान के मध्य अन्तर स्थापित करते हुए कहते हैं कि परम्परा-प्राप्त सनातनी विद्या अथवा ब्रह्मविद्या के तत्त्व में कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्मविद्या के विवरण में भिन्नता की सम्भावना है, विषय में नहीं; ब्रह्मविद्या के आवरण में विकास हो सकता है, किन्तु उसका ब्रह्मरूप विषय निर्विकार है। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान में विभाग करने एवं सामान्य को छोड़कर विशेष पर ध्यान देने की वृत्ति इतनी घनीभूत और व्यापक हो चुकी है कि विभिन्न विषयों की एकभूत समग्रता और इस रूप में इनकी ग्राह्यता लगभग असंभाव्य हो चुकी है। स्वाभाविक है कि ऐसे विज्ञान पर विश्वास करना कितना अधूरा और खतरनाक हो सकता है।

प्रोफेसर नस्र के समकालीन और लखनऊ समाजशास्त्रीय पीठ के परम्परानिष्ठ विद्वान प्रोफेसर ए.के. सरन तो आधुनिक विज्ञान की वैधता को ही चुनौती देते हैं। प्रोफेसर सरन इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि वे आधुनिकता की अन्तर्निहित विसंगतियों की आंतरिक और निर्मम आलोचना प्रस्तुत करते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी तत्त्वशास्त्री रेने गेनों भी वर्तमान काल की भ्रमपूर्ण दृष्टियों का मुख्य कारण उस मानवीय अहंकार को ही मानते हैं जो अपने और सृष्टि के मध्य किसी पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक नियामक सत्ता को नहीं स्वीकार करता। उनके अनुसार यह अहंकार सनातन-धर्म-विरुद्ध-दृष्टि का ही नामान्तर है। यही इस युग के विप्लव, संभ्रम आदि का प्रधान कारण है। यही कारण है कि वर्तमान युग में हम जिस विज्ञान-आधारित-उपलब्धि को विकास कह रहे हैं, वही दूसरी ओर हमारे विप्लव, संकट और विनाश का कारण बन रहा है। आधुनिक मनुष्य अपने संभ्रम के कारण यह सोच ही नहीं पा रहा है कि वह मनुष्य की किस विभूति का विकास कर रहा है और यदि भौतिक विकास कर रहा है तो उसका अन्तिम लक्ष्य, उसकी सीमा और उसका मूल्य क्या है?

इसीलिए यह समझ लेना चाहिए कि पर्यावरण का संकट स्थूल-जगत की विद्रूपता-मात्र नहीं है, अपितु एक आध्यात्मिक संकट है; यह परम्परागत दर्शन एवं जीवन के प्रति अनास्था एवं ऐहिक जीवन में अनावश्यक आसक्ति का परिणाम है। आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी इसे वैचारिक आधार प्रदान करते हैं और वर्तमान 'विकासमूलक' उपभोगवादी संस्कृति एवं आर्थिक संसाधनों की प्रचुरता उसे संपोषित एवं सम्वर्द्धित करते हैं।

इसी सन्दर्भ में प्रोफेसर अमर्त्य सेन द्वारा प्रतिपादित क्षमता-परिप्रेक्ष्य (capability approach) का भी खोखलापन सामने आ जाता है। प्रोफेसर सेन मनुष्य द्वारा चुनने की स्वतंत्रता की क्षमता (capability of freedom to choose) को उसके विकास की एक अनिवार्य शर्त मानते हैं। किन्तु उनका यह परिप्रेक्ष्य भी हमें किसी जीवन मूल्य या सोद्देश्य का संकेत नहीं देता। वह किसी भी मूल्य या उद्देश्य के स्वतः चयन करने की स्वतंत्रता पर बल देता है। विचारणीय यह है कि मनुष्य स्वयं अपने जीवन का लक्ष्य कैसे चुन सकता है। वह स्वयं अपना कर्त्ता नहीं है, अतः वह बिना किसी आप्तज्ञान के कैसे निश्चयपूर्वक जान सकता है कि वह संसार में किसलिए आया है? फिर, यदि विभिन्न जीवन-मूल्यों और आदर्शों में से चयन की स्वतंत्रता का कोई मानक या निकष नहीं है, तो सभी विकल्प एक समान हैं

और चयन का कोई अर्थ नहीं है; और यदि चयन का कोई नैतिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक मानदण्ड या आधार है, तो चयन की स्वतन्त्रता केवल नाममात्र की स्वतन्त्रता रह जाती है। हमें वही चुनना है जो उचित है। ऐसी स्थिति में हम चुनाव करने के लिए स्वतंत्र हैं, किन्तु यह चुनने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं कि हमें क्या चुनना चाहिए। जब तक चुनाव करने वाला व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है, तब तक उसके चुनाव करने की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है। जैसा आनन्द कुमारस्वामी ने कहा है, चयन केवल दो ही विकल्पों में सम्भव है - अनुवर्तन और विद्रोह।

बीसवीं शताब्दी के दो प्रचण्ड विरोधी विचारधाराओं - समाजवाद और पूंजीवाद ने भी विकास की अवधारणा को केवल अपनी-अपनी तरह से परिभाषित और पोषित करने का ही कार्य किया है। इसीलिए अनेक विचारशील लोगों ने ऊपर से विरोधी दिखने वाली इन विचारधाराओं को तत्त्वतः समान ही माना है। विकास की इस अवधारणा का पर्यावरणीय प्रभाव तो वैश्विक है ही, इसके सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक और आर्थिक प्रभाव भी व्यापक हैं। वैश्वीकरण जो घनीभूत उदारीकृत विकासवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक विशिष्टताओं के लिये घातक ही सिद्ध हुआ है। अपनी एकरेखीय और एकरूपीय पद्धति के कारण इसने सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक क्षेत्र में न केवल आधिपत्यवादी एकरूपता (Hegemonic Uniformity) को बढ़ावा दिया है, वरन् इन क्षेत्रों के आंतरिक विधि-निषेधात्मक नियामकों को शिथिल करते हुए अनेक आंतरिक विसंगतियों को भी जन्म दिया है। पारिवारिक विघटन, नई-नई अस्मिताओं के संघर्ष, कालाधन, नशा और वैश्विक आतंकवाद इन्हीं विसंगतियों के स्वाभाविक लक्षण हैं।

इसी प्रकार विश्व अर्थव्यवस्था में बढ़ती अनिश्चितता भी जीवन की बहुआयामी-बहुस्तरीय वास्तविकता की उपेक्षा करने वाले इसी विकासवाद की उपज है। पर्यावरण, आतंकवाद, अर्थव्यवस्था के मसलों पर वैश्विक जनमत की उलझनें और अड़चनें इस बात का प्रमाण हैं कि विकासमूलक वैश्विक परिप्रेक्ष्य गंभीर संकटों से ग्रस्त हो चुका है। विडम्बना यह है कि जिस लोकतांत्रिक प्रक्रिया को आज राजनीतिक प्रणाली की सर्वमान्य विधा माना जा रहा है, उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति जिन साधनों से होती है, वे साधन भी इस विसंगति और संकट को और गहरा ही कर रहे हैं। भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का ताना-बाना जिस प्रकार से अस्त-व्यस्त हो रहा है, शिक्षातंत्र की उलझनें जिस प्रकार बढ़ती जा रही हैं, बुनियादी संस्थाएँ और मान्यताएँ जिस प्रकार क्षरित होती जा रही हैं, तथा विकास और विकास की राजनीति जिस प्रकार इस क्षरण को बढ़ाते जा रहे हैं, उससे हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक आदर्शों और आर्थिक-राजनीतिक गत्यात्मकता के बीच असंतुलन और तनाव स्पष्ट होता जा रहा है।

ऋषि और कृषि की भारतीय संकल्पना

जहाँ तक ऋषि और कृषि की भारतीय अथवा राष्ट्रीय संकल्पना का प्रश्न है, हमें राष्ट्र के भारतीय अभिप्राय, स्वरूप और तद्नुरूप विधान के सम्बन्ध में सूत्रवत रूप से स्पष्ट होना चाहिए।

- दैनन्दिन ऊपरी लक्षणों में अल्पाधिक समानता दृष्टिगत होने के उपरान्त भी विभिन्न सभ्यताओं में आत्यंतिक विशिष्टताएँ पायी जाती हैं।
- भारतीय सभ्यता की विशिष्टता उसके जिज्ञासामूलक होने में निहित है।
- यह जिज्ञासा आत्मबोध (Who am I?) की जिज्ञासा है।
- समस्त भारतीय जीवन-प्रपंच के केन्द्र में यही आत्मबोध की जिज्ञासा सदा एक अवान्तर-कथा की तरह विद्यमान रहती है।
- भारतीयों के समस्त कर्मों के औचित्य तथा प्रत्येक महापुरुष की महत्ता का आधार भी इसी जिज्ञासा की पूर्ति पर आधारित है।
- इसी जिज्ञासा को केंद्रस्थ रखते हुए वेद-वेदांग (ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद) के रूप में भारत में एक व्यवस्थित तत्त्वशास्त्र की व्यवस्था है।

- इसी तत्त्वशास्त्र को उन्मीलित करने के उद्देश्य से षड्दर्शन (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त) और षडांग (छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, ज्योतिष और शिक्षा) की व्यवस्था है।
- इस विद्या-साधना में निष्णात होने के लिए स्मृतियों और नीति-ग्रंथों के रूप में आवश्यक आचरण-विधान है।
- तत्त्वशास्त्र के अर्थ को लोक में प्रतिबिम्बित करने के उद्देश्य से पुराण और महाकाव्य हैं।
- युग-युगान्तर तक आचार्यों ने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्वविद्या, नाट्यशास्त्र, ध्वनिशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र, भाषाशास्त्र, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाज-विधान जैसे अन्यान्य उपयोगी विषयों पर ग्रंथों की रचना की है।
- ये वांगमय-प्रणाली जीवन में ऋत (order) और धर्म का आधार है।
- भारत में विद्याएं ब्रह्मविद्या का अंश मानी गयी हैं। उनका महत्व ब्रह्मविद्या का अंश होने के कारण ही है। शिक्षा इसी ब्रह्मविद्या की मीमांसा है। देवता इन विद्याओं के अधिष्ठान हैं तथा शब्द या शास्त्र इनके प्रमाण हैं।
- इसीलिए किसी व्यवस्था या विचार का धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत होना यहाँ अपरिहार्य माना गया है।
- ब्रह्मविद्या का स्वरूप साधनागम्य या तप-मूलक है - अतः विद्या या शिक्षा का स्वरूप भी यहाँ साधनालभ्य या तपोद्भूत है।
- ऋषि यहाँ वह तपः पुंज है, जिसने विद्या का साक्षात्कार किया है, जो विद्या का साक्षात्, सम्मुख द्रष्टा है।
- भारत में ऋषि-प्रणीत और शास्त्र-प्रणीत शुद्ध विद्या की मीमांसा का एक राजपथ है जिसपर आधिकारिक गुरुओं और सुपात्र शिष्यों की स्वायत्त अथवा सम्प्रदायबद्ध परम्परा चलती रही है।
- इस शास्त्रीय परम्परा के प्रथम सिद्धांत कर्म और पुनर्जन्म, त्रिगुणात्मकता, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ और ऋण-त्रय के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।
- शुद्ध विद्याओं का साधना-परिवेश भी तद्नुरूप ही परिष्कृत होना चाहिए। अपरिष्कृत संस्थाओं में अथवा विजातीय परिवेश में शुद्ध विद्याओं की साधना नहीं हो सकती।
- इस पूरे प्रकल्प को अधिष्ठान प्रदान करने के लिए ही हमारे यहाँ समाज की व्यवस्था है।
- समाज का आधार भी त्रिगुण (सत्, रज् और तम्) पर आधारित तत्त्वशास्त्रीय चातुर्वर्ण-व्यवस्था ही है। यह हमारे अस्तित्व का दर्शन (existential reality) है। न तो किसी के मानने या न मानने से इसका कोई सम्बन्ध है, और न ही किसी काल-विशेष में किसी वर्ग-विशेष द्वारा इसकी निर्मिति की गई है। यह सृष्टि के साथ उत्पन्न दैवीय-व्यवस्था है।
- इस समाज-विधान में मनुष्य आत्मबोधमय अपने परम पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त कर सके, इसके लिए धर्म के आवरण में अर्थ और काम के पुरुषार्थों की व्यवस्था है।
- इन पुरुषार्थों की व्यवस्थित उपलब्धि को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से दो प्रवृत्ति-प्रधान आश्रमों (ब्रह्मचर्य और गृहस्थ) तथा दो निवृत्ति-प्रधान आश्रमों (वानप्रस्थ और संन्यास) का विधान है।
- सृष्टि की अनन्त विभूतियों के नियामक देव-तत्त्व, संतति और कुल-परम्परा के नियामक पितृतत्त्व और अक्षय ज्ञान-परम्परा के वाहक और संपोषक के रूप में ऋषितत्त्व के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के निमित्त से क्रमशः देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण का विधान है।
- इस समाज-व्यवस्था के संपोषण हेतु कला-कौशल युक्त अर्थ-प्रणाली, इसके संरक्षण हेतु राजनीति-विद्या और इस समस्त प्रकल्प के उन्मीलन हेतु शिक्षा की व्यवस्था है।
- इसीलिए भारत में शिक्षा का अभिप्राय मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने वाली कला से है।
- इसी प्रकार, भारत में संविधान का उद्देश्य मनुष्य को अपने परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने हेतु पर्याप्त बल और वेग प्राप्त कराना है।
- जीवन के इस शास्त्रीय विधान (First Principle) के समानान्तर भारत में जीवन्त लोक-परम्परा के उपमार्ग भी विद्यमान रहे हैं।

- जहाँ शास्त्र एक ओर लोक को प्रकाशित करता है, वहीं दूसरी ओर लोक भी शास्त्र को अभिव्यक्त करता है। सम्यक् अर्थों में यही लोकतन्त्र का आधार है।
- अतः, शास्त्र या धर्म के प्रकाश से प्रकाशित/आलोकित जन को ही यहाँ 'लोक' कहा गया है।
- ध्यातव्य है कि आत्मबोध का प्रश्न, शास्त्र-प्रणाली, धर्म, विद्याएँ, समाज, अर्थनीति, राजनीति और शिक्षा के ये सभी प्रकल्प अन्योन्याश्रित हैं, ये या तो एक साथ प्रतिष्ठित होंगे या फिर एक साथ अप्रतिष्ठित होंगे।
- जीवन-दृष्टि, शास्त्र और लोक-परम्परा - तीनों एक साथ प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित होते हैं। (शिक्षा की भारतीय दृष्टि नहीं, जीवन की भारतीय दृष्टि के प्रति ही हमारा आग्रह/ अनुराग नहीं रहा, इसीलिए शास्त्र, शिक्षा, समाज, अर्थ, राज्य - किसी की भी भारतीय दृष्टि के प्रति हमारा आग्रह/अनुराग नहीं रहा।)

इस अन्तर्विसंगति और इससे उपजे संकट को महात्मा गांधी ने 1909 में ही पहचान लिया था। भारत और विश्व के इतिहास में गांधी जी एक ऐसे विलक्षण महापुरुष हुए हैं, जिनमें आधुनिक जीवन की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विसंगतियों को पहचानने की न केवल अद्‌भुत अन्तर्दृष्टि थी, वरन् उसे कह सकने का अप्रतिम साहस और परिणामस्वरूप एक वैकल्पिक जीवन जीने की विलक्षण जीजीविषा भी उनके अन्दर विद्यमान थी। उनका *हिन्द-स्वराज* इसी पहचानने, कहने और जीने का कालजयी दस्तावेज़ है। गांधी के बाद आनन्द कुमारस्वामी, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, श्रीअरविन्द, बद्रीशाह ठुलघरिया और पण्डित दीनदयाल उपाध्याय इसी विचार-दृष्टि के समर्थक हुए। इन सभी विचारकों की यह मान्यता रही कि भारत की सभ्यता एक आत्मबोधमूलक सभ्यता है, जिसके अनुरूप उसका एक सुविचारित तत्त्वशास्त्र और दर्शन है; ऋत् और धर्म द्वारा धारित एक सामाजिक अधिष्ठान है; इस अधिष्ठान का पोषण करने के लिए एक कला-कौशल-युक्त समृद्ध अर्थ-रचना है, संस्कृति है। इस संस्कृति का परिरक्षण करने के लिए एक सुविचारित राज-विद्या और इसका उन्मीलन करने के लिए एक गुरु-शिष्य-परम्परायुक्त अक्षय ज्ञान-निधि है। स्वाभाविक ही, तत्त्वशास्त्र से लेकर ज्ञान-निधि अथवा शिक्षा तक की ये व्यवस्थाएँ एक साथ प्रतिष्ठित हैं। प्रोफेसर ए.के. सरन के शब्दों में, भारतीय जीवन-विधान ईश्वर-मनुष्य और प्रकृति के मध्य एक सामंजस्ययुक्त सन्तुलन की साधना है। आधुनिकता इस प्रवाह को खण्डित करती है। यह विद्या और विज्ञान के मध्य एक टकराव को जन्म देती है। आधुनिकता के रूप में इस टकराव के कारण को न समझने के कारण ही हम कभी अपनी परम्परागत विद्याओं को व्यावसायिक बनाने की चेष्टा करते हैं, तो कभी वैज्ञानिक विषयों को मानवीय बनाने पर जोर देते हैं। इसी उपक्रम को साधने के लिए हम बार-बार अपनी शिक्षा-नीति पर भी पुनर्विचार करते हैं। ऐसा करते समय हम यह भूल जाते हैं कि किसी राष्ट्र में बार-बार शिक्षा-नीति का प्रश्न उठना कोई शुभ संकेत नहीं है, वरन् यह राष्ट्र के बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक संकट का द्योतक है। विडम्बना ये है कि तमाम राजनीतिक दावों-प्रतिदावों के बावजूद पं. नेहरू से लेकर नरेन्द्र मोदी तक हम इसी दुविधा और असमंजस के संकट से जूझ रहे हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि अपने तरीके से एक सम्यक् जीवन जीने की हमारी चाह, सामर्थ्य और आत्मविश्वास सब चुक गया है।

जिस आत्मबोधमय दृष्टि की चर्चा पहले की गई है, उसे व्यक्त, धारित, संपोषित और परिरक्षित करने वाले सभी प्रत्ययों के मध्य एक सांगोपांग और सर्वांगपूर्ण अंगांगी भाव विद्यमान है। इसलिए आत्मबोधमय जीवन का केन्द्रीय उद्देश्य, तत्सम्बन्धी तत्त्वशास्त्र, दर्शन, ऋत्, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, समाज, अर्थ, राजनीति और शिक्षा- सभी परस्पर निबद्ध हैं। नई शिक्षा-नीति को समावेशी, बहुलतावादी और समानतामूलक बनाने का ध्येय रखा गया है। इन सन्दर्भ-रहित प्रत्ययों के भारतीय सन्दर्भ को समझे बिना इनका पारायण करने का कोई औचित्य नहीं है। इन प्रत्ययों का सम्यक् सन्दर्भ हमें परम्परागत भारतीय समाज-रचना में दिखाई देता है।

इस प्रकार, प्रोफेसर सरन के इस स्पष्टीकरण से हम समझ सकते हैं कि सनातन भारतीय ज्ञान-परम्परा को अभिव्यक्त करने वाले तत्त्वों तथा उन्हें धारित और पोषित करने वाले चारित्रिक मूल्यों की वर्तमान शिक्षा-दृष्टि के साथ कोई संगति नहीं बन सकती। इसी तरह, इन तत्त्वों और मूल्यों का संविधान और लोकतन्त्र की वर्तमान व्यवस्था के साथ भी कोई संगतिपूर्ण ताल-मेल बिठा पाना असम्भव है। अपनी पुस्तक *Hinduism in Contemporary India* में प्रोफेसर सरन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य का उद्‌घाटन करते हैं। उनका मानना है कि एक सम्यक् और सर्वांगपूर्ण हिन्दू (परम्परागत/भारतीय) जीवन एक हिन्दू (परम्परागत/भारतीय) समाज के अन्दर ही सम्भव है। हिन्दू धर्म-परम्परा के

अन्तर्गत बाह्य और आन्तरिक, निजी और सार्वजनिक, तथा व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर जीवन की अखण्डता और एकता के निर्भ्रान्त महत्व को रेखांकित करते हुए प्रोफेसर सरन कहते हैं कि-

Hinduism and Hindu Society are inseparable: It follows that to undermine one is to destroy both.

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की इसी पृष्ठभूति में हमें संविधान के भारतीय स्वरूप को भी समझ लेना चाहिए। संविधान से हमारा तात्पर्य उस विधान से होना चाहिए जो हमारे परमपुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त बल व वेग उत्पन्न कर सके। नई शिक्षा-नीति में संवैधानिक मूल्यों की स्वीकृति सुनिश्चित और विस्तारित करने की भी बात की गई है। किन्तु, संविधान की सनातन और भारतीय मान्यता के सन्दर्भ में देखा जाए तो इसकी प्रस्तावना में अनेक आधुनिक, इहलोकवादी और सन्दर्भहीन मूल्य-मान्यताओं का ही उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि देश में जहाँ एक ओर श्रेष्ठ नागरिक और श्रेष्ठ मनुष्य की मान्यताओं के मध्य गंभीर अन्तर्द्वन्द्व दिखायी देता है, वहीं राज्य और नागरिकों के मध्य कोई सहज-स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं स्थिर हो पाता। राज्य में सदैव बहुस्तरीय और बहुआयामी प्रतिद्वन्द्विता का वातावरण बना रहता है, तथा न तो नागरिकों की राज्य के प्रति अविचल निष्ठा विकसित हो पाती है, और न ही राज्य नागरिकों को उनके सम्यक् योग-क्षेम को वहन करने का विश्वास ही दिला पाता है। राज्य और नागरिकों के बीच एक बेगानेपन और अविश्वास का सम्बन्ध ही बना रहता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन-विधान में तात्त्विक एक-सूत्रता, इस एकता से उद्भूत अनेकता और धर्म के विधान से आच्छादित ईश्वर-मनुष्य और प्रकृति की सोपानवत् व्यवस्था विद्यमान है। इसी सांगोपांगता के कारण भारतीय जीवन-विधान के अन्तर्गत सम्यक् स्थिति में तत्त्व, अध्यात्म, धर्म, समाज, राजनीति, अर्थ– सभी या तो साथ-साथ प्रतिष्ठित होते हैं, या विपर्यय के उत्पन्न होने पर साथ-साथ ही अप्रतिष्ठित होते हैं। यही कारण है कि धर्म के अभाव में नैतिकता, प्रेम, सौहार्द्र, संवेदनशीलता और मानवीय मूल्य जैसी मान्यताएँ खोखली रह जाती हैं। धर्म की परिधि में ही इन मूल्य-मान्यताओं की पुष्टि होती है, और धर्म ही जीवन में इनका वाहक बनता है। यही कारण है कि धर्म से रहित उपदेशों और प्रेरणाओं का हमारे जीवन पर कोई निर्णायक और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता।

अन्ततः, सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता है कि अपने मान-बिन्दुओं के प्रति दरके हुए आत्मविश्वास को पुनः सृजित करने का यत्न किया जाए। अपने इतिहास, अपनी जातीय स्मृति, अपनी लोक-मान्यताओं को भूलकर केवल एक उपभोक्ता-समाज बनने की आकांक्षा कोई ऊँची आकांक्षा नहीं है। हमें उससे आगे देखना आना चाहिए। भारतीय सभ्यता ज्ञान, शौर्य की साधना, मांगल्य और जय को ध्येय बनाकर खड़ी हुई है। हमें अपने इतिहास को एक अत्यन्त उन्नत भारतीय सभ्यता के उत्तराधिकारी के सहज अभिमान से देखना चाहिए, क्योंकि उसी से हमें अपनी सभ्यता से भटके हुए मार्ग से वापस अपने मार्ग पर लौटने की दृष्टि मिल सकती है।

ऋषि और कृषि संस्कृति तथा भारतीय विश्वविद्यालय

दुर्भाग्य यह है कि यूरोपीय पुनर्जागरण की मानस-संतति भारतीय विश्वविद्यालय भी अपनी धर्म-संस्कृति-परम्परा के लिए आपदा सिद्ध हो रहे हैं। नव-साम्राज्यवादी वैचारिक परिवेश को अद्यतन और सार्थक बनाए रखने में ये विश्वविद्यालय अपनी सारी उर्जा लगाने में उद्यत है। नारीवाद और उत्तर-आधुनिकवाद जैसे कुछ नकारात्मक तथा पर्यावरणवाद और वैश्वीकरण जैसे कुछ गुमराह करने वाले विचारों के रक्षण-पोषण-सम्वर्द्धन का कार्य इन्हीं विश्वविद्यालयों में हो रहा है। विसंगति यहाँ तक बढ़ गयी है कि इन कु-विचारों को भारतीय परम्परा के सहारे भी सिद्ध करने के प्रयास हो रहे हैं। इस अर्थ में भारतीय विश्वविद्यालय विष-कुम्भ की तरह व्यवहार कर रहे हैं। जबकि किसी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा और उसके श्रीवर्द्धन के लिए आवश्यक है कि उसकी एक अक्षय ज्ञान-परम्परा हो, उस अक्षय ज्ञान-परम्परा पर काल-वशात् जो प्रतिघात हों उनका सम्यक् प्रत्युत्तर देने वाले समर्थ मनीषी हों और उस सभ्यता की अन्तर्चेतना लोक-जीवन में भी मठों-मन्दिरों, कुलाचारों आदि के माध्यम से प्रतिध्वनित होती रहे।

First, a university is an association of persons, locally situated, engaged in caring for and attending to the whole intellectual capital which composes a civilization. It is concerned not merely to

keep an intellectual inheritance intact, but to be continuously recovering what has been lost, restoring what has been neglected, collecting together what has been dissipated, repairing what has been corrupted, reconsidering, reshaping, reorganizing, making more intelligible, reissuing, and re-investing. In principle, it works undistracted by practical concerns; its current directions of interest are not determined by any but academic considerations, the interest it earns is all reinvested.

भारतवर्ष में शिक्षा का प्रश्न बहुत उलझ चुका है। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप जिस शिक्षा-दृष्टि और तद्नुरूप जिस शिक्षा-व्यवस्था को स्थापित किया गया, उसके विजातीय स्वरूप से सुधीजन अवगत हो चुके हैं। विकल्पतः, भारतीय दृष्टि के शिक्षा-विधान की चर्चा भी बलवती हो रही है। विडम्बना यह है कि आज भारत की अधिकृत शिक्षा-व्यवस्था स्वरूपतः भारतीय नहीं है, और यदि भारतीय शिक्षा-व्यवस्था जैसा कुछ बनाने की चेष्टा हो रही है, तो वह अधिकृत नहीं है। कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक अनजान वीथिका में भटकते रहने को अपनी नियति मान बैठ हैं।

ध्यातव्य है कि भारतवर्ष में स्वाधीनता-आन्दोलन के समय से ही इस बात की आवश्यकता बनी रही कि अपनी स्वजातीय जीवन-दृष्टि के अनुरूप शुद्ध विद्याओं की रक्षा तथा श्रेष्ठता की परम्परा का पालन करते हुए एक तद्नुरूप शिक्षा-विधान पुनर्स्थापित हो सके, जिससे हमारे अन्दर अपने समाज, अर्थ और राज्य-विधान की समझ और स्वीकार्यता बनी रहे। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में शिक्षा के प्रश्न को लेकर ऐसी संवेदनशीलता पिछली एक सदी में कभी नहीं दिखी। तभी तो लगभग सौ वर्ष पूर्व भारतीयों की जिस मनोदशा का वर्णन आनन्द कुमारस्वामी ने किया था, वह आज भी यथावत् है। 1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *Essay in National Idealism* में वे लिखते हैं-

The most crushing indictment of this Education is the fact that it destroys, in the great majority of those upon whom it is inflicted, all capacity for the appreciation of Indian culture. Speak to the ordinary graduate of an Indian University, or a student from Ceylon, of the ideals of the *Mahabharata*- he will hasten to display his knowledge of Shakespeare; talk to him of religious philosophy- you find that he is an atheist of the crude type common in Europe a generation ago, and that not only has he no religion, but he is as lacking in philosophy as the average Englishman; talk to him of Indian music- he will produce a gramophone or a harmonium, and inflict upon you one or both; talk to him of Indian dress or jewellery- he will tell you that they are uncivilized and barbaric; talk to him of Indian art- it is news to him that such a thing exists; ask him to translate for you a letter written in his own mothertongue- he does not know it. He is indeed a stranger in his own land.

द्रष्टव्य है कि आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व का भारतीय शिक्षा-व्यवस्था और शिक्षा-दृष्टि के सम्बन्ध में किया गया कुमारस्वामी का अवलोकन आज भी अद्यतन लगता है। किन्तु विखण्डित और आत्म-विभाजनकारी आधुनिक शिक्षा के कारण अपनी प्रतिष्ठा और अपने गौरव को पहचानने की दृष्टि ही भारतीयों ने खो दी। हमारा काल-बोध, हमारा कर्त्तव्य-बोध और हमारा सौन्दर्य-बोध, सब कुछ छिन्न-भिन्न हो गया। हमारे लिए क्या सम्मानजनक है, और क्या अपमानजनक है- यह तय करने का हमारा विवेक ही जाता रहा। विचारकों ने इसे आध्यात्मिक दृष्टिहीनता अथवा आत्मीय रुग्णता (Sickness of the Soul) कहा है। भारतीय पुरुषों और स्त्रियों का कुल-बोध और पारिवारिक गरिमा के अनुरूप आचरण करने का सुदृढ़ भाव इसी मतिभ्रम के कारण शिथिल और उपेक्षित पड़ गया। वरना, हमें अपने बच्चों को आंगनबाड़ी और बुजुर्गों को वृद्धाश्रमों के सहारे छोड़ने की शर्मनाक स्थिति न आ पाती। कुमारस्वामी आगाह करते हैं कि ऐसी राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है, जहाँ हमारी चिति को सुनिश्चित और हमारी आत्मा को स्पर्श करने वाले तत्त्व ही विजातीय प्रभाव से ग्रसित हों।

नई (राष्ट्रीय) शिक्षा-नीति में जिन विचारों, संकल्पनाओं और दृष्टियों को महत्व दिया गया है, उनके विश्लेषण के लिए हमें भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की वीथिका में प्रवेश करना पड़ेगा। लखनऊ समाजशास्त्रीय पीठ के ख्यातिलब्ध विद्वान प्रोफेसर ए.के. सरन का मानना है कि भारत का स्वाधीनता संग्राम जहाँ एक ओर समाजार्थिक दृष्टि से प्रगतिवादी प्रकृति का था, वहीं सांस्कृतिक दृष्टि से पुनरूत्थानवादी था। इस पुनरूत्थानवादी सांस्कृतिक धारा को 'पुनर्जागरण' कहा गया। प्रोफसर सरन मानते हैं कि इसे सम्यक् अर्थों में पुनर्जागरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस तथाकथित पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप भारतीय मानस में कुछ आधारभूत दुविधाएँ और मूल्यात्मक विभेद उत्पन्न हो गए। ये दुविधाएँ और विभेद

देश की स्वाधीनता को प्रमुखता देने के कारण उस समय तो प्रभावी नहीं दिखे, किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर भारत में इन्होंने विनाशकारी प्रभाव उत्पन्न किया है।

स्वाधीनता-संग्राम के दौरान विदेशी आधिपत्य से मुक्त होने के प्रश्न पर तो आम सहमति बन गई, किन्तु अपने सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के पश्चिमीकरण के प्रति हमारी क्या दृष्टि होनी चाहिए, यह प्रश्न अभी तक अनसुलझा है; तथा पश्चिमीकरण के इस प्रश्न पर दुविधा, असमंजस और मतान्तर अभी तक बना हुआ है। इस दुविधा और असमंजस का प्रभाव हमारी शिक्षा-व्यवस्था में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कभी पश्चिमी सभ्यता के समक्ष स्वाभिमानपूर्वक खड़े होने को लेकर जिन आधुनिक पश्चिमी मूल्य-मान्यताओं और पद्धतियों को हमने अपने शिक्षा-तन्त्र में प्रवेश कराया, वे अन्ततः हमारे आत्म-गौरव के लिए हीनता-बोधक ही सिद्ध हुईं।

प्रोफेसर सरन के इन निष्कर्षों की पुष्टि भारत में शिक्षा-नीति के बारम्बार बदलने के प्रयास में देखी जा सकती है। इसे एक गम्भीर और दोहरी विडम्बना ही कहा जाएगा कि अपनी शिक्षा-नीति में सुधार के नाम पर हम दिनों-दिन स्वयं पश्चिम में तिरस्कृत पद्धतियों और विचारों को समाहित किए जा रहे हैं, और इस विसंगति को अपनी उपलब्धि मानकर इस पर आत्ममुग्ध हुए जा रहे हैं। जिन परिवर्तनों पर हम गर्वोन्मत्त हो रहे हैं, वे वस्तुतः आधुनिक पश्चिमी मानस की फूहड़ अनुकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वैसे भी देखा जाए तो किसी राष्ट्र की शिक्षा-नीति में बार-बार बदलाव की आवश्यकता उत्पन्न होना एक गहरे आध्यात्मिक, नैतिक और बौद्धिक संकट का चिह्न ही माना जाना चाहिए। किसी भी प्रशान्तचित्त-व्यक्ति को यह आसानी से समझ में आ सकता है कि हम अन्दर से एक अशान्त, अस्थिर और दुविधाग्रस्त सभ्यता बन चुके हैं। इसलिए किसी भी राष्ट्र के लिए यदि बार-बार अपनी शिक्षा-नीति को बदलने की आवश्यकता पड़ रही है तो यह अपने राष्ट्रीय चरित्र के प्रति बार-बार शंकालु होने का चिह्न है।

राष्ट्र की इस संकटग्रस्त आत्मा की प्रतिध्वनि सुनने के लिए हमें अपने विश्वविद्यालयों की ओर कान लगाना होगा। हमारे विश्वविद्यालयों में समाज विज्ञानों, साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान और इतिहास के क्षेत्र में जो कुछ भी पढ़ाया जा रहा है, वह सब वास्तव में मनुष्य और समाज के प्रति एक भ्रमित, विकृत या सन्दर्भ-रहित दृष्टि का परिणाम है। आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के नाम पर उदारवाद, नव-उदारवाद, इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, नववामपंथ, नारीवाद, पर्यावरणवाद, बहुसंस्कृतिवाद, समुदायवाद, सबाल्टर्नवाद और आधुनिक राष्ट्रवाद जैसी जितनी भी अवधारणाएँ हमारे विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम को आच्छादित किए हुए हैं, वे सभी विश्वविद्यालयों को अमृत-कलश के स्थान पर विष-कुम्भ बनाती जा रही हैं। वास्तव में, आज के हमारे विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता और उन्नयन के नहीं, वरन् अकादमिक आपदा और पतन के केन्द्र बने हुए हैं।

यह विडम्बना ही है कि ज्ञानियों एवं मनीषियों की भूमि भारत आज आत्म-विस्मरण एवं संभ्रम की स्थिति में है। कई शताब्दियों के विजातीय शासन ने भारत के समान्य एवं विशिष्ट जनों को जो आधुनिक विचार-दृष्टि दी उसने कुविचारों और कुचेष्टाओं को ही स्थापित किया है। पाश्चात्य विचार-दृष्टि देहात्मवादी, देहातिरिक्त आत्मवादी और आत्मातिरिक्त शक्तिवादी है। भारतीय ज्ञान-परम्परा में यह अज्ञान-भूमियाँ हैं जिनसे कलुषित, दूषित, पतनकारी सिद्धांत ही जन्म लेते हैं। बुद्धि पर अर्थ-कामादि वेगों का प्रभाव उसे चंचल और अस्थिर कर देता है और ऐसी दशा में सम्यक् एवं गंभीर चिन्तन संभव नहीं होता। आधुनिक जड़वादी एवं भोगवादी विचार-दृष्टि के आधार पर मानव-कल्याण के सूत्र तलाशना मृग-मरीचिका ही है। उससे जो संभ्रम और विस्मरण उत्पन्न हुआ है, वह निम्न बिन्दुओं में उल्लिखित किया जा सकता है-

1. शिक्षा भौतिक-आर्थिक-ऐन्द्रिक लक्ष्यों की प्राप्ति का माध्यम रह गयी है। भारत में शिक्षा को सदैव लोक-द्वय प्रसाधिनी और आत्मोपलब्धिकारिणी माना गया। इस प्रकार शिक्षा के लक्ष्य का घोर संकुचन हुआ।

2. जड़वादी दृष्टिकोण के कारण हमारी शिक्षा-पद्धतियाँ इन्द्रियगत अनुभव (Sensory Experience) और बौद्धिक विश्लेषण (Rational Analysis) तक सीमित हैं। ज्ञाता एवं ज्ञेय के मध्य एक विजातीयता और असम्बद्धता की दुर्लन्घ्य खाई बन गई। भारतीय विचार-दृष्टि जीवन एवं अनुभव को बहुआयामी (Multi-dimensional), समग्र (Holistic) और ज्ञाता एवं ज्ञेय को सम्बद्ध (Integrated) मानने की रही है।

3. विचार-दृष्टि के बिखराव ने 'विशेषीकरण' (Specialization) की विचित्र अवधारणा को जन्म दिया है। व्यष्टि को समष्टि से सम्बद्ध न देखकर, स्वतंत्र रूप से देखने की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति ने जीवन एवं जगत के बारे में विभ्रम और विखंडनकारी मान्यताओं को ही प्रतिपादित किया है।

4. व्यवहारिकता (Pragmatism) और अनुप्रयोग (Applied) पर विशेष बल दिए जाने के कारण सिद्धांत की घोर उपेक्षा हुई अथवा उसी सिद्धांत को वैज्ञानिक या सामाजिक प्रतिष्ठा दिया गया जो भौतिक-आर्थिक दृष्टि से उपयोगी हो, सुविधावर्धक हो - इस प्रवृत्ति ने लोकोत्तर सत्यों की उपेक्षा की जो मनुष्य के लिए आत्मिक और नैतिक रूप से उन्नयनकारी है। लोकोत्तर को अस्वीकार कर लोक-मंगल व लोक-कल्याण के प्रयास निष्फल ही होंगे।

आज भारतीय शिक्षा-जगत को आत्म-मंथन की बड़ी आवश्यकता है। शिक्षा और शोध के लक्ष्य का निर्धारण भारतीय विचार-दृष्टि के अनुरूप होना चाहिए। यहीं नहीं, भारतीय समाज के प्रश्नों व समस्याओं पर ही हमारी शिक्षा व शोध केन्द्रित होने चाहिए। शोध की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर तो स्वयं पश्चिम में ही प्रश्न चिह्न लग गया है, अतः हमें प्रकृति एवं समाज पर भारत की परम्परागत दृष्टि से ही विचार एवं शोध की प्रणाली विकसित करनी होगी। भारत के शोधकर्ताओं को आधुनिक पाश्चात्य Paradigm और Parameter से मुक्त होने की आवश्यकता है, क्योंकि इनकी उपादेयता एवं सार्थकता पश्चिमी जगत में ही संदिग्ध घोषित की जा चुकी है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इसके विभिन्न आनुषंगिक संगठन, रामकृष्ण मिशन, चिन्मय मिशन, गायत्री परिवार, स्वाध्याय परिवार, महर्षि महेश योगी, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इत्यादि संस्थाओं द्वारा देश के अन्दर और बाहर शिक्षा और संस्कार की गतिविधियाँ व्यापक पैमाने पर चल रही हैं। जहाँ तक संस्कार-शिक्षा का प्रश्न है, प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थात् मीडिया के माध्यम से देश भर में बड़े पैमाने पर कथा-उपदेश के प्रकल्प भी चल रहे हैं। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि या तो ये प्रकल्प शासकीय अनुदान और नियंत्रण के जाल में जकड़कर अपनी आत्मा खो चुके हैं, और शिक्षा की भारतीय दृष्टि का प्रश्न विश्वविद्यालयों के शिक्षाशास्त्र विभागों के पाठ्यक्रम में भारतीय शिक्षा की पुनर्प्रतिष्ठा का एक इतिवृत्त बन चुका है, जिसे प्राणवान अंगी होना चाहिए था वह निष्प्राण अंग बनकर रह गया है; वहीं अन्य प्रकल्पों के उद्देश्य मोटे तौर पर प्रशस्त होते हुए भी या तो कालबाह्य बने हुए हैं या फिर भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य जीवन-दृष्टि और जीवन-विधान के मध्य असंभाव्य 'समन्वय' की आशा करते-करते ये संस्थान और प्रकल्प आधुनिक पाश्चात्य नमूनों की दुर्बल अनुकृति बनकर रह गये हैं। सर्वाधिक दयनीय और निराशाजनक स्थिति तो उस प्रकल्प की है जो शासन द्वारा अधिकृत, मान्यताप्राप्त और अखिल भारतीय व्याप्ति वाला है। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के अविवेकपूर्ण और असम्बद्ध खाँचों में बँटे इस महाप्रकल्प का खण्ड-खण्ड पाखण्ड अब किसी भी सुधी व्यक्ति से छिपा नहीं है। इस सरकारी शिक्षा-प्रणाली में जो विषय, जिस स्तर पर और जिस रूप में पढ़ाए जा रहे हैं उनका हमारे स्वाभाविक जीवन-विधान के साथ कोई तारतम्य नहीं रहा। धीरे-धीरे सब कुछ अस्त-व्यस्त और निरर्थक होता जा रहा है। इधर शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर यांत्रिकता के द्वारा मानवीय तत्त्व को प्रतिस्थापित करने का उद्यम जोर-शोर से साधा जा रहा है और उधर ऐसी निर्जीव होती जा रही 'शिक्षा' से अधिक से अधिक लोगों को जोड़ने का एक महाअभियान भी चल रहा है। जिस सभ्यता की लाक्षणिकता ही शिक्षा और संस्कृति पर आधारित हो उसके इतिहास में ऐसे दुर्दिन कभी नहीं आए कि 'आम आदमी' से पूछ-पूछ कर उसके अधिष्ठान राष्ट्र की शिक्षानीति तय की जाए। किसी राष्ट्र के अन्दर बार-बार शिक्षानीति का प्रश्न उठना वैसे भी एक गंभीर आध्यात्मिक संकट और बौद्धिक दृष्टिहीनता की स्थिति का संकेतक है। यही कारण है कि जैसे-जैसे इलाज जटिल होता जा रहा है, वैसे-वैसे मर्ज भी सान्निपातिक होता जा रहा है। आधुनिक शिक्षा का विस्तार उसी अनुपात में विसंगतियाँ और उलझनें भी बढ़ाता जा रहा है। किन्तु दिक्कत यह है कि यह जो सर्वाधिक मान्यता प्राप्त, व्यापक और अधिकृत मुख्यधारा है, वह भारतीय नहीं है और जो भारतीय है वह अधिकृत नहीं है, तथा उसका आधुनिक जीवन-विन्यास के साथ कोई तारतम्य नहीं है।

दुर्भाग्य से आज ज्ञान और शिक्षा के केन्द्र विश्वविद्यालय या तो आचार-भ्रष्टता के केन्द्र बने हुए हैं अथवा अपने मुख्य दायित्व को विस्मृत कर वे राजनीतिक अखाड़े बने हुए हैं। परम्परागत दृष्टि में विश्वविद्यालय को विश्व-विद्या अर्थात उच्चतर-सनातन-शाश्वत सत्य का मीमांसा-स्थल माना गया है। ब्रह्म-जिज्ञासा (Theology: Queen of Sciences) इसके केन्द्र में और शेष विषय परिधि पर हैं। इस दृष्टि से प्राथमिक-माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के मध्य एक स्वाभाविक

सामंजस्य और सातत्य की अपेक्षा की गयी है, केवल शैली की भिन्नता होगी। उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक और शिक्षार्थी सत्य के मित्रवत अन्वेषक होते हैं, सहपथिक होते हैं। इसलिए शिक्षा का प्रश्न एक सर्वांगपूर्ण प्रश्न है। यह अधिष्ठान, प्रक्रिया और व्यवस्था- तीनों से जुड़ा प्रश्न है। गांधीजी ने इसी अर्थ में शिक्षा को दिल (Heart), दिमाग (Head) और हाथ (Hand) का परिष्कार कहा है। हाथ के माध्यम से यह कौशल का, दिल के माध्यम से भाव का, और दिमाग के माध्यम से बुद्धि का परिष्कार करती है। यही कारण है कि इहलौकिकता के प्रति अति आग्रहपूर्ण और किसी उच्चतर सत्य के प्रति तिरस्कार से युक्त जिस यूरोपीय पुनर्जागरण (Unmediated/self-mediated knowledge system) का प्रभाव तत्कालीन भारत की जीवन-दृष्टि पर पड़ा उसने हमारी जीवन-दृष्टि को भी तद्नुरूप ही सीमित, खण्डित और संशयात्मक बना दिया; तथा इसी प्रकार का सीमित, खण्डित और संशयग्रस्त हमारा समाज, अर्थ और राज्य-विधान हो गया। 'Trial and Error' की अनन्त संशोधनीयता (Indefinite Corrigibility) की इस आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का प्रभाव सर्वत्र हमारे शिक्षा-अधिष्ठान, प्रणाली और व्यवस्था पर भी पड़ा। हमारे हाथों में स्वाभाविक कौशल नहीं रहा, हमारा हृदय भावशून्य और हमारी बुद्धि भ्रमित होती जा रही है। भारत में ज्ञान, ज्ञानी और संसाधन की कमी नहीं है; बल्कि ज्ञान और ज्ञानी प्रतिष्ठित नहीं हैं और संसाधन भ्रमित, भ्रष्ट या कमजोर लोगों के हाथों में है। हमने निःस्वार्थी, तेजस्वी और योग्य लोगों को समाज के शीर्ष पदों पर प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था तोड़ दी है। शिक्षा का जिस प्रकार का संस्थानीकरण हो चुका है उससे वह प्रकटतः शासन और प्रच्छन्नतः राजनीतिक दलों के नियंत्रण में आ गयी है। अब तो इन्हें औद्योनिक घराने नियंत्रित करने लगे हैं। आचार्य की स्वायत्तता समाप्तप्राय है। यह आत्मगौरवहीनता और पाखण्ड की स्थिति है जिसे समझते हुए भी शिक्षा में मूल्यों की बात करना अपराध-सदृश है। अपराधी और पाखण्डी किसी व्यवस्था में न तो मूल्य-सृजन कर सकते हैं, न ही मूल्य धारित। इसीलिए हमारी युवापीढ़ी 'not at home anywhere, out of place everywhere' वाली स्थिति में भटक रही है। 'पुनर्जागरणकाल' की दुविधा अभी तक हमारा पीछा नहीं छोड़ रही है। सनातन और सापेक्ष का हमारा अनुपात बिगड़ गया है। स्मरण और विस्मरण करने योग्य विचारों और व्यक्तियों के मध्य अन्तर करने में हमारा विवेक कमजोर पड़ गया है। हमारी प्रतिबद्धताएँ धूमिल पड़ गयी हैं और जीवन की इस आपाधापी में अपनी प्रतिबद्धताओं की कीमत लगाते हमें देर नहीं लगती। परिवार, शिक्षा, समाज, राजनीति, कृषि, पशुपालन, वानिकी और उद्योगों में जिस आपाधापी से हम फैसले लेते और बदलते हैं, वह अपनी प्रतिबद्धताओं के लिए जाने जाने वाले समाज का लक्षण तो नहीं है। अपनी कमजोर प्रतिबद्धताओं के कारण ही हमारे सार्थक प्रयास भी फलीभूत नहीं हो रहे। अपनी पाठ्यचर्या में महापुरुषों की कथाओं और नैतिक-शिक्षा को भी सम्मिलित करने का कोई प्रभाव इसीलिए नहीं दिखायी पड़ता। वस्तुतः बुनियादी तौर पर ही हम प्रमादग्रस्त हो चुके हैं। हमारा खान-पान, रहन-सहन, बोली-बानी सब कुछ प्रमादग्रस्त हो चला है। युवक और युवतियाँ अच्छे माता-पिता तो बनना जैसे भूल ही गए हैं और एक-दूसरे की तरह विपरीतधर्मी दिखना-बनना उनका स्वभाव बनता जा रहा है। ऐसे युवक-युवतियाँ निःसंतति, अल्पसंतति या अक्षमसंतति के कारण बन रहे हैं। ऐसे बच्चे जन्म ले रहे हैं जो शारीरिक रूप से तो कमजोर हैं ही, मानसिक रूप से भी उनमें असहनशीलता, अनास्था, भय, तनाव और उत्तेजना के लक्षण दिखायी देने लगे हैं।

भारत की जीवन-दृष्टि समन्वयकारी है। पिंड एवं ब्रह्मांड, व्यष्टि एवं समष्टि, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की अन्योन्याश्रितता इसका मूल स्वर है। हमारे चिन्तन में एकनिष्ठता तो गुण कहा गया, परन्तु एकांगिकता दोष है। एकनिष्ठता उत्कर्ष का हेतु है, परन्तु एकांगिकता अपकर्ष और विघटन का। वर्णाश्रमधर्म पर आधारित समाज व्यवस्था में व्यक्ति द्वारा एकनिष्ठ भाव से अपने वर्णधर्म और आश्रमधर्म का पालन अभ्युदय और निःश्रेयस का वाहक माना गया, परन्तु एकांगी दृष्टि अहंकार, अभिमान और विघटन को जन्म देती है। वस्तुतः जीवन अनेकानेक सोपानों की श्रृंखला है जिसकी हर कड़ी महत्वपूर्ण तो है परन्तु पूर्ण नहीं। निम्नतर सोपानों की महत्ता एवं सार्थकता उच्चतर सोपानों के संदर्भ व सम्बन्ध से है, एवं उच्चतर सोपानों की उपलब्धि निम्नतर सोपानों पर निर्दिष्ट भूमिका के निष्पादन पर निर्भर है।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भारत में ऋषि और कृषि के क्षेत्र में कार्यरत विद्यार्थियों, शोधार्थियों और शिक्षकों को विषयवस्तु (Substance) और पद्धति (Methodology) दोनों को नितांत भिन्न दिशा देनी होगी। गांधी के शब्दों में आधुनिक जीवन के प्रश्नों व समस्याओं को पुरातन (सनातन) दृष्टि से विचारने की आवश्यकता है। दीनदयालजी के एकात्म मानववाद को हम सीमोन वील के *The Need for Roots* के समानान्तर रखकर देख सकते हैं, जो भारतवर्ष के सभी राजनीतिक दलों के लिए एक सर्वकालिक घोषणापत्र हो सकता है और भारतवर्ष के सभी सुधीजनों के लिए

आधुनिकता के कुहासे में धुँधले होते जा रहे उनके 'भारत-बोध' अथवा 'आत्म-बोध' को आलोकित करने वाला एक प्रकाश-पुंज।

The problems of education are merely reflections of the deepest problems of our age. They cannot be solved by organisation, administration, or the expenditure of money, even though the importance of all these is not denied. We are suffering from a metaphysical disease, and the cure must therefore be metaphysical. Education which fails to clarify our central convictions is mere training or indulgence. For it is our central convictions that are in disorder, and, as long as the present anti-metaphysical temper persists, the disorder will grow worse. Education, far from ranking as man's greatest resource, will then be an agent of destruction, in accordance with the principle *corruptio optimi pessima* (corruption of the best is the worst).

The recovery of the old spiritual knowledge and experience in all its splendour, depth and fullness is its first, most essential work; the flowing of this spirituality into new forms of philosophy, literature, art, science and critical knowledge is the second; an original dealing with modern problems in the light of the Indian spirit and the endeavour to formulate a greater synthesis of a spiritualized society is the third and most difficult. Its success on these three lines will be the measure of its help to thefuture of humanity.

सहायक सन्दर्भ

1. A.K. Coomaraswamy: *Art and Swadeshi*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1994.
2. A.K. Coomaraswamy: *East and West and Other Essays*, Ola Books Ltd., Colombo, 1940.
3. A.K. Coomaraswamy: *Essays in National Idealism*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1981 (originally published in 1909).
4. A.K. Coomaraswamy: *Spiritual Authority and Temporal Power in the Indian Theory of Government*, IGNCA and OUP, New Delhi, 1993.
5. A.K. Coomaraswamy: *What is Civilisation?*, IGNCA and OUP, New Delhi, 1989.
6. A.K. Saran: 'Gandhi and the Concept of Politics: Towards a Normal Civilization', *Gandhi Marg*, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, February-1980.
7. A.K. Saran: *Hinduism in Contemporary India*, Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi, 2007.
8. A.K. Saran: 'On Modernity' in Abha Awasthi (ed.): *Social and Cultural Diversities*, Rawat Publications, Jaipur and New Delhi, 1999.
9. A.K. Saran: 'On the Promotion of Gandhian Studies at the University Level', *Tattva-Sindhu,* Coomaraswamy Foundation, Lucknow, 2021.
10. A.O. Lovejoy: *The Great Chain of Being,* The Harvard University Press, Cambridge (USA), 1957.
11. Alasdair MacIntyre: *After Virtue*, University of Notre Dame Press, Notre Dame, 1984.
12. Anthony Parel: *Hind Swaraj and Other Writings*, Cambridge University Press, New Delhi, 2007.
13. Collum: Manifest Unity: The Ancient World's Perception of Divine Order, Rupa & Co., Calcutta, 1995.
14. E.F. Schumacher: *Small is Beautiful*, Vintage, London, 1993.
15. G.D. Tendulkar: *Mahatma: Life of Mohandas Karamchand Gandhi* (8Vols.), Publication Division, Government of India, New Delhi, 1961, Part VIII.
16. Gopinath Kaviraj: *Aspects of Indian Thought,* University of Burdwan, Burdwan, 1966.
17. Hans Yonas: *The Gnostic Religion: The Message of the Alien God and the Beginning of Christianity*, Beacon Press, Bostan, 1963.
18. J.H. Randall, Jr.: *The Making of the Modern Mind*, Houghton Mifflin Company, Cambridge, 1954.
19. M.K. Gandhi: *Collected Works of Mahatma Gandhi*, Publication Division, Government of India, New Delhi, Part LV.
20. Ortega Y Gasset: *The Revolt of the Masses,* Unwin Books, London, 1963.
21. Plato: *Laws*.
22. Pyare Lal: *Mahtma Gandhi: The Last Phase* (2 Vols.), Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1956.
23. Rabindranath Tagore: *Nationalism,* Macmillan, Madras, 1985 (originally published in 1917).
24. Raghuveer Singh: 'Some Thoughts on Higher Education in India', *Tattva-Sindhu*, Coomaraswamy Foundation, Lucknow, 2021.
25. Raghuveer Singh: 'Political Culture and Culture of Politics in India', *Indian Political Science Conference*, Jodhpur, 1984.

26. Raghuveer Singh: 'Political Theory of the Indian Constitution: From Constitutional Government to Popular Democracy', *Journal of the Society for Study of State Governments*, Varanasi, April-June and July-September 1973.
27. Ramashray Roy: Modernity and the Search for Wholeness (*Sarvata*), *Second Ananda Coomaraswamy Lecture,* Coomaraswamy Centre for Traditional Studies, Lucknow, August 21, 2010.
28. René Guénon: *Studies in Hinduism,* Navrang, New Delhi, 1985.
29. S.H. Nasr: *Man and Nature: The Spiritual Crisis of Modern Man*, Unwin Paperbacks, London, 1976.
30. Simone Weil: *First and Last Notebooks*, Tr. Richard Rees, Oxford University Press, London, 1970.
31. Simone Weil: *The Need for Roots*, Tr. T.S. Eliot, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1952.
32. Sir George Birdwood: *Sva*, Oxford, 1915.
33. Sri Aurobindo: *The Renaissance in India and Other Essays on Indian Culture* (The collected works of Sri Aurobindo, Vol. 20), Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1977. Most of the essay that make up this volume have also appeared under the title *The Foundations of Indian Culture.*
34. T.S. Eliot: *The Idea of a Christian Society*, Faber and Faber Limited, London, 1939.
35. W.M. Urban: *The Intelligible World: Metaphysics and Value*, George Allen & Unwin Ltd., London and The Macmillan Company, New York, 1929.
36. क्षेत्रलाल साहाः 'देहतत्त्व-विज्ञान', *कल्याण,* हिन्दू संस्कृति अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1993.
37. बाल गंगाधर तिलकः *गीता रहस्य.*
38. बद्रीशाह ठुलघरियाः *दैशिक-शास्त्र,* चित्रशाला प्रेस, पूना, 1921.
39. कपिला वात्स्यायनः *आचार्य नरेन्द्र देव स्मृति व्याख्यान,* लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, 2007.
40. मो.क. गांधीः *हिन्द स्वराज.*
41. *विष्णु पुराण.*
42. विद्यानिवास मिश्र : *क्या पूरब क्या पश्चिम!,* सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015.
43. विद्यानिवास मिश्र : *हिन्दू धर्मः जीवन में सनातन की खोज,* वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2016.
44. विश्वनाथ शास्त्री 'दातार': *पं. भुवनेशचन्द्र मिश्र स्मृति व्याख्यान,* कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ, 2007.
45. गिरीश्वर मिश्रः 'हिन्द स्वराज और सभ्यता के आशय...', *विचार,* लखनऊ, मार्च-2010.
46. भवभूति : *उत्तर रामचरितम्.*
47. रघुवीर सिंह : *पर्यावरण एवं विकास,* भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली, 1999.
48. राकेश मिश्रः 'भारतीय पुनर्जागरण एवं आनन्द कुमारस्वामी', *तत्त्व-सिन्धु,* कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ, 2014.
49. राकेश मिश्रः 'आधुनिकता और सभ्यता', *विचार,* लखनऊ, मार्च-2010.
50. रामाश्रय रायः 'व्यक्ति, समाज, राजनीतिः नव व्याख्या', देखें आशा कौशिक (सं.): *गांधी नयी सदी के लिए,* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000.
51. रेने गेनों : 'विद्या और विज्ञान', *कल्याण,* हिन्दू संस्कृति अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष 24.
52. *शतपथ ब्राह्मण.*
53. स्वामी करपात्रीजीः *मार्क्सवाद और रामराज्य,* गीताप्रेस, गोरखपुर, 1957.
54. स्वामी श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वतीः *हिन्दू धर्म,* भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1996.
55. स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीः 'हिन्दू संस्कृति', *कल्याण,* हिन्दू संस्कृति अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1993.
56. उमेश मिश्रः *भारतीय दर्शन,* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2003.
57. दीनदयाल उपाध्यायः *एकात्म मानववाद पर चार व्याख्यान,* बम्बई, 22-25 अप्रैल, 1965.
58. अमित कुमार शर्माः *भारतीय संस्कृति का स्वरूप,* कौटिल्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006.

बृजेन्द्र पाण्डेय
आचार्य, राजनीतिशास्त्र
विद्यान्त महाविद्यालय
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
सचिव, कुमारस्वामी फाउण्डेशन
सह-सम्पादक, *तत्त्व-सिन्धु*
brijendra_pandeyji@yahoo.co.in
+91-9451155116